श्रीमान्!

आपकी सेवामें ~~समालोचनार्थ~~

दर्शन और अनेकान्तवाद की

एक प्रति भेजता हूं। आशा है

आप इसका निरीक्षण और

परीक्षण करके मुझे अनुगृहीत

करोगे - विनीत — हंस

॥ श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ॥

दर्शन और अनेकान्तवाद

लेखक—

पं० हंसराज जी शर्मा।

प्रकाशक—

श्री आत्मानन्द जैन-पुस्तक प्रचारक-मण्डल,

रोशन मुहल्ला—आगरा।

वीर संवत् २४५४ | आत्म सं० ३३

विक्रम सं० १९८५ | ईस्वी सन् १९२८

प्रथमवार १०००] | मूल्य ॥)

प्रकाशक—

मंत्री-श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक-

प्रचारक मण्डल,

रोशनमुहल्ला आगरा ।

मुद्रक—

सत्यव्रत शर्म्मा,

शान्ति प्रेस, शीतलागली आगरा ।

विद्वानों की सम्मतियां

[१]

॥ वन्दे श्रीवीरमानन्दम् ॥

हमने पं० श्री हंसराज शास्त्री का निर्माण किया "मध्यस्थ-वादमाला" का तीसरा पुष्प *दर्शन और अनेकांतवाद* नाम पुस्तक आद्योपान्त देखा।

इसमें शक नहीं कि-यह पुस्तक विद्वानों के लिये जिसमें भी खास करके जैनेतर विद्वानों के लिये, मार्ग दर्शक हो जायगा। क्योंकि इस पुस्तक का खास विषय स्याद्वाद अनेकान्तवाद का है। शास्त्रों में जहां कहीं यह विषय आ जाता है वहां प्रायः अच्छे अच्छे विद्वान् भी अपरिचित होने के कारण विचार में पड़ जाते हैं, या तो मनः कल्पित यद्वा तद्वा समझकर वस्तु के परमार्थ से वञ्चित रह जाते हैं? जैन विद्वान् तो प्रायः स्याद्वाद को जानते ही हैं, इसलिए उनके निकट इस पुस्तक की इतनी ही उपादेयता समझी जाती है कि-जैनदर्शन के सिवाय अन्य दर्शनों में भी स्याद्वाद को कितना आदर मिल रहा है और अन्यान्य दर्शनकारों ने इसका किस किस रूप में अनुकरण किया है, परन्तु जैनेतर विद्वानों को इस पुस्तक द्वारा एक तो जैन दर्शन के स्याद्वाद का स्पष्टतया बोध होगा और दूसरा उनके अपने अपने दर्शनकारों ने एक ही पदार्थ में विरुद्ध धर्मों का जिस रूप से प्रतिपादन किया है इसका सुचारु बोध होगा, इसलिए यह

पुस्तक विद्वान् मात्र को उपयोगी होता हुआ खास करके जैनेतर विद्वान् को अधिक उपयोगी होगा ऐसा हमारा मानना है।

पण्डितजी ने इस पुस्तक को लिखकर अपनी प्रतिभा का विद्वान् जगत को परिचय दिया है, यह उनके लिये थोड़ी ख्याति नहीं है। हमारा अन्तःकरण ज़रूर क़बूल करता है कि जो कोई भी निष्पक्ष विद्वान् इस पुस्तक को साद्यन्त पढ़ेगा अवश्यमेव सिर हिलायेगा और पण्डित जी को धन्यवाद दिये विना न रहेगा।

हम पण्डितजी का कर्त्तव्य समझते हैं कि वे इसी तरह के साहित्य से जगत की सेवा करके अपने जीवन को सार्थक करें।

श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल को इस विषय में यदि धन्यवाद दिया जाय तो अनुचित न होगा, क्योंकि जिसने परिश्रम द्वारा पुस्तक तैयार कराकर उसका उपयोग अधिकतर होवे इस हेतु द्रव्य सहायदाता खड़ा करके अल्प मूल्य में जनता के हाथ में पहुँचाने की उदारता दिखलाई है। अन्य धनिकों को भी चाहिये कि वे अजीमगंज (मुर्शिदाबाद) निवासी स्वर्गीय बाबूजी डालचन्द्रजी सिंघी का अनुकरण करके अपने सद्द्रव्य का ऐसे सदुपयोग में व्यय करें।

	सही—श्रीविजयानन्द सूरिवर्य्य पट्टधर-आचार्य विजयवल्लभ सूरि महाराज।
पाटण गुजरात	प्रवर्त्तक—
ता॰ १४-७-२८	श्री कान्तिविजय जी महाराज
	महाराज श्री हंसविजय जी

पण्डित हंसराज जी शास्त्री वैदिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एवं दार्शनिक शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। यही नहीं, आप जैन धर्म के भी असाधारण पण्डित हैं। आपने कई पुस्तकें लिखी हैं जो आपकी विद्वता का अच्छा परिचय दे रहीं हैं। आपकी नवीन पुस्तक अनेकान्तवाद विषयक है। इस विषय पर बहुत विद्वानों ने लिखा है पर जो कुछ पण्डित जी ने लिखा है वह अपूर्व है। आपने इस कठिन विषय को बड़ी युक्तियों से समझाया है। इस सिद्धान्त को पाठक के हृदय-पटल पर गाढ़ अंकित करने के उद्देश्य से एक बात को कई कई बार कहा है। यह पुनिरुक्ति दोष नहीं है बल्कि जिसे वेदान्त वाले अभ्यास कहते हैं वह है। पण्डित जी की हिन्दी बड़ी शुद्ध परमार्जित और बोधगम्य है विषय कठिन और गूढ़ है पर प्रतिपादन की शैली परम स्तुत्य है।

हिन्दू दर्शन शास्त्रोंको तुलनात्मक दृष्टिसे देखना एक प्रकाण्ड विद्वान् का ही काम है। ऐसे वैसे पढ़े लिखे का नहीं। पण्डित जी इस विषय के अच्छे जानकार हैं। अन्य मतावलम्बियों की पक्षपात हटाने के लिये पण्डित जी ने जो आयोजना की है वह प्रशंसनीय है। इस प्रकार का ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आया। यह अपने ढंग का अद्वितीय और अनूठा ग्रन्थ है आशा है कि हिन्दी संसार इसका उचित सत्कार करेगा। इसकी एक एक प्रति सभी घरों में होनी चाहिये। अस्तु।

धौलपुर
१० जुलाई १९२८

कन्नोमल

'अनेकान्तवाद' यह एक जैन तत्त्वज्ञान का मूल सिद्धान्त है और यह पुस्तक भी जैन संस्था की ओर से प्रसिद्ध होती है। इसलिए पुस्तक के नाम मात्र से बहुत लोग ऐसा समझ सकते हैं कि इसमें लिखा हुआ जैनों के काम का है, दूसरों के काम का नहीं। परन्तु ऐसे समझने वालों को मैं कहना चाहता हूँ कि यह पुस्तक जैन, जैनेतर सभी ज्ञान पिपासुओं के लिये उपादेय है। इसके दो कारण हैं:—

(क) ज्ञान यह किसी की खास सम्पत्ति नहीं है और किसी स्थान या सम्प्रदायके सम्बन्धसे वह त्याज्य नहीं ठहरता, अगर असल में वह सत्य हो।

(ख) 'अनेकान्तवाद' की विचारणा जैन दर्शन के अलावा वैदिकदर्शनों में भी कितनी है और किस प्रकार है इसका परिचय प्रसिद्ध २ वैदिक ग्रन्थों में से प्रस्तुत पुस्तक में कराया गया है। इसलिए जैन विद्वानों को जैनेतर ग्रन्थों से और जैनेतर विद्वानों को जैन ग्रंथों से अनेकान्तवाद के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये यह पुस्तक पहला ही साधन है।

उक्त दो कारणों से सच्चे तत्व जिज्ञासु के लिये प्रस्तुत पुस्तक बड़े महत्व की है। संशोधक विद्वानों के लिये तो यह पुस्तक प्रमाणों का संग्रह होने से खास काम की है। क़ीमत कुछ भी नहीं है।

सुखलाल

(गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद)

संयुक्त प्रान्त के प्रसिद्ध शहर आगरा के अपने 'श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल' की ओर से पं० हंसराज जी कृत 'दर्शन और अनेकान्तवाद' नामक पुस्तक मुझे सम्मति देने के लिये भेजी गई है। समाज के धुरंधर विद्वानों की तुलना में यद्यपि मैं अपना स्थान बहुत ही निम्नकोटि का समझता हूँ तो भी इस आदेश को गौरव समझ कर दो अक्षर लिखने का साहस करता हूँ।

आज कल क्या हिंदी क्या जैन साहित्य जिस ओर भी देखा जाय नवीन पुस्तकों की संख्या दिनों दिन बढ़ती ही जाती है परन्तु आज मेरे सम्मुख जो पुस्तक उपस्थित है वह बड़े ही महत्व की है। ऐसा गम्भीर गवेषणापूर्ण तुलनात्मक दर्शन की पुस्तक की विशेष कमी थी। इसमें जितने जैन और जैनेतर विद्वानों की पुस्तकों के और उन लोगों के मत के विषय में अनेकान्तवाद दृष्टि से ग्रन्थकार ने जो विवेचन किया है वह ग्रन्थ के प्रारम्भ में सूची से ही पाठकों को अच्छी तरह उपलब्ध होगा कि हमारे पं० हंसराज जी की योग्यता ऐसे जटिल और कठिन विषय में कितनी उच्च है। ग्रन्थ के प्रासंगिक विषय की उपयोगिता पर प्रकाशक महाशय अपने निवेदन में स्पष्ट किये हैं कि 'यह पुस्तक अनेकान्तवाद के तात्विक, ऐतिहासिक व तुलनात्मक स्वरूप का निरूपण करने के लिये विशिष्ट विद्वानों को एक अनुपम प्रमाण संग्रह का काम देगी। लिखना बाहुल्य है कि अपने जैन सिद्धान्त का अनेकान्तवाद एक बड़ा ही कठिन और विचारने योग्य विषय है। बड़े २ विद्वान् और ज्ञानियों ने इस विषय की गंभीरता और जटलिता एक स्वर से

स्वीकार किया है मुझे बड़ा ही हर्ष है कि पण्डित जी ऐसे विषय को बड़ी सरल भाषा में उपस्थित करके एक महान् उपकार किये हैं। देखिये पुस्तक के पृ० १६८ में कैसे सुन्दर रूप से यह प्रकट किया गया है कि 'परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक स्थान में विधान करना-इस प्रकार का स्याद्वाद का स्वरूप जैन दर्शन को अभिमत नहीं। किंतु अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अपेक्षा कृत भेद से जो २ धर्म रहे हुए हैं उनको उसी २ अपेक्षा से वस्तु में स्वीकार करने की पद्धति को जैन दर्शन, अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के नाम से उल्लेख करता है, इत्यादि।

आशा है कि जैन और जैनेतर दर्शन प्रेमी सज्जन इस पुस्तक के हर पृष्ठों से लाभ उठायेंगे। मेरे विचार में यह पुस्तक बंगला, गुजराती, अंग्रेजी, जर्मन इत्यादि भाषाओं में भी अनुवाद कराने योग्य है। मुझे विश्वास है कि मण्डल की ओर से अवश्य इसके लिये प्रबन्ध किया जायगा और ऐसा होने से ही अजैन विद्वानों में भी इस पुस्तक का विशेष प्रचार होगा। मैं ग्रन्थकार, प्रकाशक और सहायक महाशयों को अंतःकरण से बधाई देता हूँ कि जिन लोगों की सम्मिलित शक्ति से आज यह अमूल्य पुस्तक हस्तगत हुआ है।

ता० २४। ७। २८

पूरनचन्द नाहर
M. A. B. L.
वकील-हाईकोर्ट, कलकत्ता।

छ

'दर्शन और अनेकान्तवाद' नामक पुस्तक पढ़कर यथार्थ में मुझे अत्यानन्द प्राप्त हुआ। ऐसी उपयोगी पुस्तक लिखने के लिये मैं लेखक महोदय को बधाई देता हूँ। लेखक महोदय ने इस बात को पूर्ण योग्यता के साथ दर्शाया है कि भिन्न भिन्न दर्शनों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेकान्तवाद का समन्वय किस प्रकार किया है। मुझे विश्वास है कि भारतीय दर्शन शास्त्रों के अभ्यासी इस पुस्तक को पढ़कर इससे अत्यन्त लाभ उठावेंगे।

बी० भट्टाचार्य

प्रिंसिपिल विद्यावन [शान्ति निकेतन]
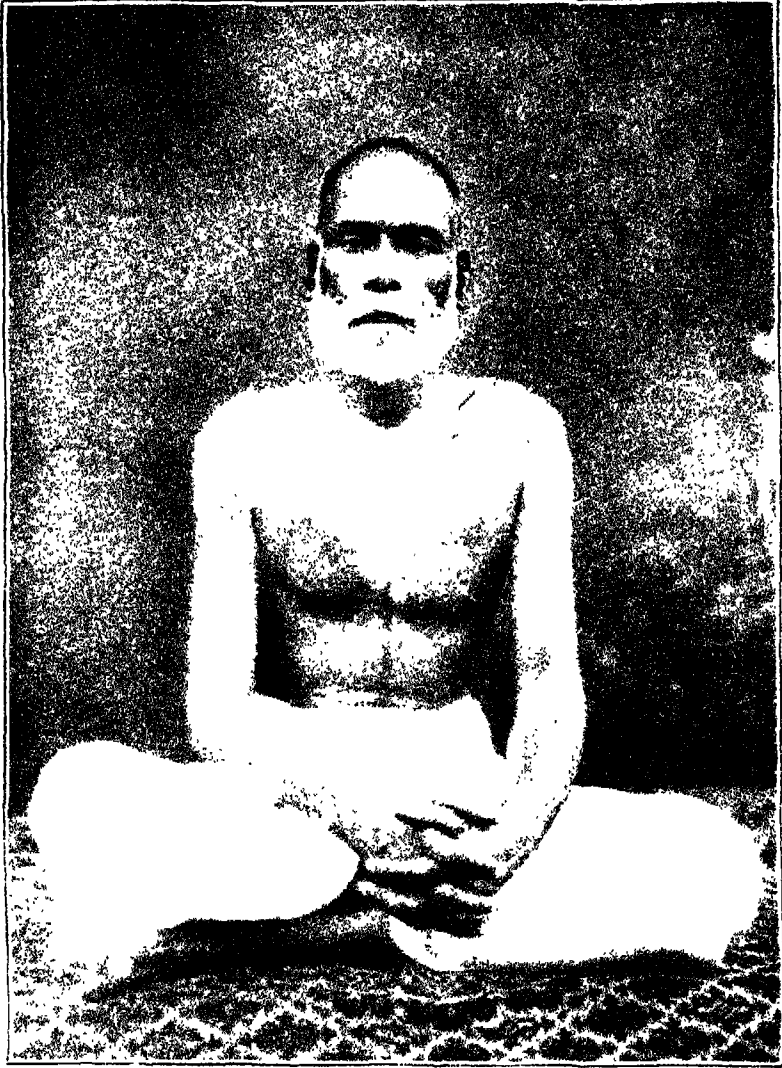
अजीमगंज-निवासी परममाननीय धर्म-निष्ठ दानवीर स्वर्गीय

बाबू डालचन्दजी सिंघी

जन्म विक्रम सं० १९२१ देहावसान विक्रम सं० १९८४

अर्हम्

अजिमगंज (मुर्शिदाबाद) निवासी

स्वर्गीय श्रीमान् बाबू डालचन्द् जी सिंघी का

संक्षिप्त--परिचय ।
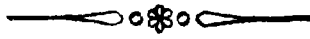
कलकत्ते के मैसर्स, हरिसिंह निहालचन्द् फर्म के मालिक स्वनाम धन्य धनकुबेर श्रीमान् बाबू डालचंद जी सिंघी के समान आदर्श रखने वाले व्यक्ति समाज में बहुत कम उपलब्ध होते हैं।

आप एक कर्मपरायण, उन्नत चेता और प्रामाणिकता के अनुपम आदर्श थे। आप केवल सामान्य पूंजी से वाणिज्य व्यवसाय का कार्य आरम्भ कर अपनी कार्य पटुता और धर्मपरायणता आदि गुणों के द्वारा एक पर्याप्त धन सम्पत्ति के अधिकारी बने। इसके साथ २ आप में स्वदेश प्रेम, शिक्षानुराग और समाज सेवा के भाव भी पूर्णतया विद्यमान थे। आपकी धर्माभिरुचि प्रशंसनीय और अनुकरणीय थी। वदान्यता, अनुकम्पा और परोपकार तो आप के एक प्रकार से सहचारी थे। इसीलिये

देश की प्रायः सभी अच्छी २ धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं को आपने प्रचुर धन दिया। देश की शिक्षा और शिल्प विद्या की तरफ़ भी आपका कम लक्ष्य नहीं था। अभी कुछ दिन पहले आपने चितरंजनदास सेवा सदन को दस हज़ार रुपये दान में दिये। इस के सिवाय काशी के हिन्दूविश्वविद्यालय, योधपुर के "बालिका विद्यालय" जियागंज के अस्पताल और जयपुर आदि अन्यान्य स्थानों की विविध संस्थाओं को आपने लक्षाधिक रुपये प्रदान किये। समयोपयोगी धार्म्मिक साहित्य प्रचार में भी आपका बड़ा उत्साह था; कई पुस्तकों के प्रकाशन में आपने आर्थिक सहायता दी है और पं० सुखलाल जी द्वारा बिलकुल ही नये ढंग से लिखा हुआ देवसि राई व पंचप्रतिक्रमण की पुस्तक को तैयार कराने व प्रकाश कराने का सम्पूर्ण व्यय भार आप ही ने वहन किया था। वाणिज्य व्यवसाय में भी आपका स्थान असाधारण था। ईस्वी सन १९०९ में जब, देशी जूट के व्यवसाइयों ने "रायल एक्सचेंज" से अपने को अलग करके "जूट बेलर्स एसोसियेशन" नाम की एक पृथक् व्यापारिक संस्था की स्थापना की तब व्यापारी जनता की तरफ़ से आप ही प्रथम उसके सभापति निर्वाचित हुए थे। इसका कारण, आपकी व्यवहार पटुता और सच्ची प्रामाणिकता थी। आप प्रकृति के जितने कोमल उतने गम्भीर भी थे। इस कदर व्यवहार दक्ष और नीति निपुण होने पर भी आप में उसका गर्व नहीं था सामान्य बुद्धि के मनुष्य से भी किसी कार्य में प्राप्त हुए परामर्श पर आप खूब विचार करते थे। किसी के विचार को यूंही ठुकरा देना आपकी प्रकृति के प्रतिकूल था।

इतनी बड़ी सम्पत्ति के स्वामी होने पर भी आपमें उसका गरूर बिलकुल नहीं था। आप धनी और निर्धन दोनों का ही समान आदर किया करते थे। व्यावहारिक शिक्षा के साथ आप में धार्मिक शिक्षा की भी कमी न थी। वह शास्त्रीय रूपमें भले ही कुछ कम हो मगर अनुभव के रूपमें वह पर्याप्त थी।

आपके समान विद्यानुरागी और विद्वत्सेवी पुरुष धनाढ्य वर्गमें बहुत कम देखने में आयेंगे। योग्य विद्वानों के समागम की आपको अधिक उत्कंठा रहती थी। उनके सहवास से आपने भारतीय दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों का खूब मनन किया था इसी लिये जैन दर्शन पर आपकी उच्च दर्जे की आस्था थी।

आपके जीवन में रहे हुए इन सब गुणों की अपेक्षा भी अधिक ध्यान खेंचने वाली कोई बात है तो वह आपकी सच्चरित्रता है। जहां पर धन सम्पत्ति का आधिक्य होता है वहां पर सच्चरित्रता-आचरण सम्पन्नता-का प्रायः अभाव सा ही देखने में आता है परन्तु आप इसके अपवाद थे आपमें धन सम्पत्ति का आधिक्य होने के साथ श्रेष्ठ आचार सम्पत्ति की विशिष्टता भी पर्याप्त थी।

आप बीस वर्ष से अखंड ब्रह्मचारी थे। योगाभ्यास में आपका पूर्ण लक्ष्य था और पिछले दस बर्ष से तो आप सर्वथा आत्म चिन्तन में ही निमग्न रहते थे। आपकी प्रकृति में द्वेष का नाम तक भी देखने में नहीं आता था। आप बाल्य काल से ही प्रकृति के मृदु और विचारों के उदार थे। सामाजिक और धार्मिक

कामों में आपका सहयोग, एक कर्तव्यपरायण व्यक्ति के समान था, आप की सादगी, विचार स्वतन्त्रता, धर्म परायणता और आचरण सम्पन्नता आदि गुणों की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी कम है। अधिक क्या कहें आप के देहावसान से जैन संसार में जो कमी हुई है उसकी पूर्ति यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य है। आपका जन्म वि० सं० १९२१ अघन-मार्गशीर्ष कृ० ६ शनिवार और स्वर्गवास १९८४ माघ कृ० ६ गुरुवार को हुआ। काश ! ऐसे आदर्श व्यक्ति प्रचुर संख्या में उत्पन्न हों।

प्रकाशक का निवेदन

पढ़े लिखों में से शायद ही जैन समाज में कोई ऐसा हो जो पं० हंसराज जी के नाम से अपरिचित हो। उनकी लिखी हुई 'पुराण और जैनधर्म' नामक किताब थोड़े ही दिन हुए पाठकों की सेवा में उपस्थित की जा चुकी है। आज फिर उन्हीं की लिखी हुई 'दर्शन और अनेकान्तवाद' नामक पुस्तक पाठकों की सेवा में उपस्थित की जाती है।

इस पुस्तक का विषय है जैन धर्म का प्राणभूत अनेकान्त-वाद। इसकी चर्चा प्रस्तुत पुस्तक में पण्डित जी ने बड़े विस्तार में की है। इसकी खास विशेषता यह है कि इसमें जो अनेका-न्तवाद दर्शक प्रमाण एकत्र किये हैं वे सब प्रधानतया जैनेतर दर्शन सम्बंधी प्रधान प्रधान ग्रन्थों में से लिये हैं।

इस प्रमाणमाला के आधार से हर एक जैन, जैनेतर अभ्यासी यह जान सकेगा कि अनेकान्तवाद की व्यापकता कितनी अधिक है। इस के सिवाय अनेकान्तवाद के तात्त्विक, ऐतिहासिक व तुलनात्मक स्वरूप का निरूपण करने के लिए विशिष्ट विद्वानों को यह पुस्तक एक अनुपम प्रमाण संग्रह का काम देगी। अस्तु आशा है विद्वान लोग इसे पढ़ कर इसका वास्तविक मूल्य स्वयं ही समझ लेंगे।

मुर्शिदाबाद (अज़िमगंज) निवासी बाबू डालचंदजी सिंघी के स्मरणार्थ यह पुस्तक मण्डल की ओर से प्रकाशित कीजाती है। इसे तय्यार करने का तथा काग़ज़, छपाई, जिल्द आदि का सब खर्च उक्त बाबू जी के सुपुत्र बाबू बहादुरसिंह जी सिंघी ने दिया है। उनकी यह ख़ास इच्छा थी कि यह पुस्तक निर्मूल्य वितरण की जाय। परन्तु यह सोच कर कि थोड़ा भी मूल्य रखने से पुस्तक का अधिक सदुपयोग होगा और दुरुपयोग से बच जायगी। यह मूल्य सिर्फ जिल्द की क़ीमत भर है। पुस्तक की लागत का सिर्फ चौथा हिस्सा है। इस अल्प मूल्य के द्वारा भी जो कुछ प्राप्ति होगी उसका उपयोग पुनः ऐसीही पुस्तकें निकालने में मण्डल करेगा।

इस ढंग की पुस्तक आज तक कोई नहीं निकली। आशा है इसे साद्यन्त पढ़कर विद्वान् पाठक उक्त बाबू जीकी उदारता का पूरा फ़ायदा उठावेंगे और मण्डल की प्रकाशन प्रवृत्ति को सफल करेंगे।

मन्त्री—

दयालचन्द जौहरी

वि. सू.—विद्यालय, पुस्तकालय तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं को यह पुस्तक विना मूल्य केवल पोस्ट खर्च ।=) मात्र भेजने से मिल सकती है।

लेखक का वक्तव्य

दर्शन और अनेकान्तवाद नामका यह प्रस्तुत निबन्ध; मध्यस्थ वादमाला के तीसरे पुष्प के रूप में पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है। इस के पहले 'स्वामि दयानन्द और जैनधर्म' तथा पुराण और जैनधर्म, नाम के दो निबन्ध पाठकों की सेवा में पहुँच चुके हैं। प्रस्तुत निबंध के लिखने का हमारा जो उद्देश है उसको हमने निबन्ध में ही [प्रान्त भाग में] व्यक्त कर दिया है। अनेकांतवाद अथवा अपेक्षावाद का सिद्धान्त कुछ नवीन अथच कल्पित सिद्धान्त नहीं, किन्तु अति प्राचीन [ऐतहासिक दृष्टि से] तथा पदार्थों की उनके स्वरूप के अनुरूप यथार्थ व्यवस्था करने वाला सर्वानुभव सिद्ध सुव्यवस्थित और सुनिश्चित सिद्धांत है। तात्विक विषयों की समस्या में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों का दूर करने के लिये अपेक्षावाद के समान उसकी कोटी का दूसरा कोई सिद्धान्त नहीं है। विरुद्धता में विविधता का भान कराकर उसका सुचारु रूप से समन्वय करने में अनेकान्तवाद—अपेक्षावाद का सिद्धान्त बड़ा ही प्रवीण एवं सिद्धहस्त है।

जहां तक मालूम होता है जैन दर्शन ने इसी अभिप्राय से अपेक्षावाद को अपने यहाँ सब से अग्रणीय स्थान दिया और उसी के आधार पर अपने सम्पूर्ण तत्वज्ञान के विशाल भव्य-भवन का निर्माण किया। परन्तु इसके विपरीत यह भी सत्य है कि जैन दर्शन की भांति (शब्दरूप से नहीं किन्तु अर्थ रूप से) अन्य दर्शनों में भी उसे (अपेक्षावाद को) आदरणीय स्थान मिला है। और कहीं पर तो जैन दर्शन के समान शब्द रूप से भी वह अपेक्षावाद-सम्मानित हुआ है [इसके लिये देखो प्रस्तुत

निबन्ध के पृष्ठ–१६–२९–३७–३९–५४–५५–५६–५७–५८ ५९–६० आदि] भारतीय दार्शनिक संसार में सब से अधिक ख्याति प्राप्त करने वाले भट्टमहोदय–कुमारिल भट्ट–ने, मीमांसा-दर्शन में अनेकान्तवाद–अपेक्षावाद–को जो प्रतिष्ठित स्थान दिया उसका अन्य दार्शनिकों, की अपेक्षा बौद्ध विद्वानों पर कुछ अधिक गहरा प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई देता है। उन्होंने अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में मीमांसा और जैन दर्शन में कोई भेद नहीं समझा।* मगर मीमांसा दर्शन के धुरीणतम किसी भी विद्वान् ने यह नहीं कहा कि मीमांसा दर्शन में अनेकान्तवाद की भी प्रतिष्ठा है। बल्कि सब आज तक यही समझते रहे कि अनेकान्तवाद मात्र जैनदर्शन का ही सिद्धान्त है। इतर दर्शनों में इसको कथमपि स्थान नहीं। इस में तो शक नहीं कि जैन विद्वानों ने अनेकान्तवाद के समर्थन में जैसे और जितने स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे तथा जितने आज उपलब्ध होते हैं, उतने उस विषय पर लिखे हुए मीमांसक विद्वानों के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होते। परन्तु तत्वसंग्रह आदि देखने से हमारा यह कथन साफ़ तौर पर प्रमाणित हो जाता है कि अनेकान्तवाद–अपेक्षावाद की प्रतिष्ठा जैनदर्शन की तरह अन्य दर्शनों में भी है×। अतः यह सिद्ध हुआ कि जैनदर्शन ने जिस सिद्धान्त [अपेक्षावाद–अनेकान्तवाद] को अपने तत्वज्ञान की इमारत का

---

* देखो नालिन्दा बौद्ध विद्यालय के प्रधानाध्यापक आचार्य शांति रक्षित का तत्व संग्रह और धर्मकीर्ति रचित हेतु बिंदुनर्व टीका आदि बौद्धग्रंथ।

× एवमेकांततो भिन्न जातिरेषा निराकृता।
जैमिनीयाभ्युपेता तु स्याद्वादे प्रति षेत्स्यते॥

तत्वसंग्रह पृ० २६२ का ८१२

मूल स्तम्भ माना है वह मात्र उसी की सम्पत्ति नहीं किन्तु अन्य दर्शनों का भी उस पर अधिकार है। वह अपेक्षावाद–किसी व्यक्ति विशेष का आविष्कार किया हुआ सिद्धान्त नहीं किन्तु वस्तु स्वभाव के अनुकूल एक नैसर्गिक सिद्धान्त है, इसलिये वह सब की समान सम्पत्ति है, तात्पर्य कि वह जिस प्रकार जैनदर्शन को स्वीकृत है उसी प्रकार अन्य दर्शनों को भी मान्य है। यदि कुछ मतभेद है तो अनेकान्तवाद-या स्याद्वाद-इन शब्दों में है। इनके वास्तविक अर्थ में कोई विरोध नहीं। बस इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये हमने यथाशक्ति उपलब्ध प्रामाणिक सामग्री द्वारा प्रस्तुत निबंध की रचना का यथामति प्रयत्न किया है। इस के सिवाय किसी दर्शन के उत्कर्ष या अपकर्ष को जतलाने के लिये हमारा यह प्रयास नहीं और न इस आशय से यह निबंध लिखा गया है। यहाँ पर इतना और भी ध्यान में रहे कि प्रस्तुत निबन्ध की रचना का उद्देश प्रधानतया विशिष्ट विद्वानों के समक्ष अनेकान्तवाद का वर्णन उपस्थित करने का है। प्रथम और मध्यम श्रेणी के लोग इससे पूरा लाभ तो नहीं उठा सकेंगे, तो भी जहाँ तक हो सका हमने उनका भी पूरा ध्यान रखा है और विषय को सरल एवं सुबोध बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। इसी ख्याल से प्रस्तुत निबन्ध में एक बात को कई दफा दोहराया और एक विषय की अनेकवार आवृत्ति की है, जिससे कि थोड़ा सा परिश्रम करने पर वे लोग–प्रथम-मध्यम श्रेणि के लोग–भी लाभ उठा सकें। तथा पाठकों को इतना और भी ख्याल में रहे कि इस निबन्ध में ऐतिहासिक क्रम का बिलकुल ध्यान नहीं रखा गया। इसका एक कारण तो यह है कि

हमारा ज्ञान इतिहास के विषय में बहुत ही परिमित है, दूसरे प्रस्तुत निबन्ध का इतिहास के साथ कोई गाढ़ सम्बन्ध भी नहीं, और दर्शनों के नाम से जो ग्रन्थ आजकल ख्याति में आरहे हैं उनका पौर्वापर्य अभी तक सुनिश्चित नहीं हुआ, एवं उनके रचना काल में भी ऐतिहासिक विद्वानों का अभी तक एकमत नहीं हुआ किन्तु मतभेद ही चला आता है। कई एक विद्वानों का मत है कि इनकी (दर्शनों की) रचना महाभारत के बाद में हुई × और सत्यव्रत सामश्रमी आदि पंडितों का विचार है कि दर्शनों का रचना काल महाभारत से बहुत पहिले का है। + इसलिये भी हमने उक्त विषय में हस्तक्षेप नहीं किया। तथापि प्रस्तुत निबंध में प्रमाणरूप से उद्धृत किये जाने वाले ग्रन्थों की पृष्ठ वार सूची और उनके कर्त्ताओं के समय आदि का संक्षिप्त विवरण देकर ऐतिहासिक क्रम की संकलना में कुछ सुगमता प्राप्त करदी है।

इसके अलावा प्रूफ के संशोधन में पूरी सावधानी रखने पर भी अधिकांश में दृष्टि दोष का ही प्राबल्य देखा गया फिर भी कुछ न कुछ अशुद्धियें रह ही गई! उनके लिये एक शुद्धाशुद्ध विषय सूची साथ में देदी गई है अतः निबन्ध में जहाँ पर कोई वाक्य अशुद्ध प्रतीत हो पाठक उसे सूची से मिला कर शुद्ध करलें। अन्त में पाठकों से हमारा सविनय निवेदन है कि प्रस्तुत निबन्ध में प्रदर्शित किये गये विचारों को वे मध्यस्थ भाव से ही अवलोकन करने की कृपा करें।

प्रार्थी-हंस।

× देखो—महाभारत मीमांसा हिन्दी अनुवाद पृ० १४

+ देखो—उनका निरुक्तालोचन पृ० ७२ से आगे।

प्रस्तुत निबन्ध में प्रमाण रूप से उद्धृत किये गये जैन जैनेतर ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की पृष्ठवार सूची। (क विभाग)
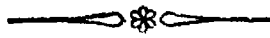
जैनग्रन्थ	ग्रन्थकार	निबन्ध के पृष्ठांक
(१) सम्मति तर्क	सिद्धसेन दिवाकर	२२-२३
(२) न्यायावतार	सिद्धसेन दिवाकर	२५
(३) तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति	७
(४) शास्त्र वार्ता समुच्चय	हरिभद्रसूरि	१३-१५-२४
(५) स्याद्वाद मंजरी	मल्लिषेणसूरि	४-५-९-२०-४२ ४४-५९-१६९-१७३
(६) स्याद्वाद कल्पलता	उ० यशोविजय	१३-१३१-१७२
(७) अध्यात्मोपनिषन्	,, ,, ,,	१५-६६-१६७
(८) पंचाशती	,, ,, ,,	१३
(९) न्यायावतार निवृति	सिद्धर्षि	२५
(१०) प्रमाणनय तत्वा-लोकालंकार	वादि देवसूरि	२६
(११) रत्नाकरावतारिका	रत्नप्रभाचार्य	२६-१६९-१७३
(१२) षड् दर्शन समुच्चय	हरिभद्र सूरि	२६

जैनग्रन्थ	ग्रन्थकार	निबन्ध के पृष्ठांक
(१३) नय कर्णिका	उ० विनय विजय	२६–४४
(१४) अन्ययोगव्यवच्छेदिका	हेमचन्द्राचार्य	३३–४४
(१५) सिद्धहेम व्याकरण	” ” ”	७८
(१६) नयोपनिषत्	उ० यशोविजय	७८–१३५
(१७) अनेकांत जयपताका	हरिभद्रसूरि	८०–१७५
(१८) षड्दर्शन समुच्चय-लघुवृत्तिः	मणिभद्र	
(१९) न्यायखंडखाद्य	उ० यशोविजय	१२८–१६८
(२०) तर्क रहस्य दीपिका (षड् दर्शन समुच्चय टीका)	गुणरत्न सूरि	१३१
(२१) अष्टक प्रकरण	हरिभद्रसूरि	१४५
(२२) अध्यात्मसार	उ० यशोविजय	१४५
(२३) प्रमाण मीमांसा	हेमचन्द्राचार्य	१४५–१७७
(२४) प्रमेयरत्न कोष	चन्द्रप्रभसूरि	१७१–१७६
(२५) अष्ट सहस्री	स्वामी विद्यानंदी	१७४–१७५
(२६) तत्वार्थ श्लोक-वार्तिकालंकार	” ” ”	१३१
(२७) पंचास्तिकाय टीका	अमृत चन्द्रसूरि	३

अजैनग्रन्थ	ग्रन्थकार	निबन्ध पृष्टांक
(१४) मीमांसाश्लोक वार्तिक	कुमारिल भट्ट	१६–५४–५५–५७–५८–५९–६०–१७७
(१५) न्याय रत्नाकर (श्लोक वार्तिक व्याख्या)	पार्थसार मिश्र	१६–५६–५७–५८–६०
(१६) पातंजल योगदर्शन	पतंजलि ऋषि	३९
(१७) व्यास भाष्य टिप्पण	बालरामजी उदासीन	२९–३१–३३–३५–३७–४७
(१८) राज मार्तण्ड	भोजदेव	४१
(१९) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	स्वामी शंकराचार्य	४९–५१–५२–१२३ १२५–१६२–१६५–१६७
(२०) न्यायनिर्णय (शांकर भाष्य टीका)	आनंद गिरि	५१–१६०
(२१) भामति (शां० भा० टी०)	वाचस्पति मिश्र	१५९–१६३
(२२) रत्नप्रभा (शां० भा० टी०) ।	गोविन्दानन्द	१६०–१६४
(२३) सांख्य तत्त्व कौमुदी	वाचस्पति मिश्र	५२
(२४) विद्वत्तोषिणी (सां० तत्वकौ० व्या०)	साधुप्रवर बालरामजी	५३
(२५) तै० उ० शांकरभाष्य	स्वा० शंकराचार्य	५२–१२५
(२६) बृ० उ० शां० भा०	,, ,, ,,	५२
(२७) वैशेषिक दर्शन	कणाद ऋषि	७९–८२
(२८) प्रशस्त पाद भाष्य	प्रशस्तपाद मुनि	७९

अजैनग्रन्थ	ग्रन्थकार	निबन्ध पृष्ठांक
(२९) उपस्कार	शंकर मिश्र	८०–८२
(३०) वेदान्त परिभाषा	धर्मराज दीक्षित	१२६
(३१) न्याय भाष्य	वात्स्यायन मुनि	८३–८४
(३२) न्यायसूत्र वैदिक वृत्ति	स्वामि हरिप्रसाद	८६–८७–८८
(३३) वेदान्तसूत्र वै० वृ०	,, ,, ,,	९१–९२–९३
(३४) वैशेषिक सूत्र वै० वृ०	,, ,, ,,	९३
(३५) भास्करीय ब्रह्मसूत्रभाष्य	,, ,, ,,	९४–९५–९७–९८–९९–१००–१६३–१६७–१६९
(३६) विज्ञानामृत भाष्य	विज्ञान भिक्षु	१००–१०१–१०२–१०३–१५५–१५६
(३७) वेदान्तपारिजातसौरभ	निम्बार्काचार्य	१०४
(३८) श्रीभाष्य	रामानुजाचार्य	१०६–१०७
(३९) ब्रह्म मीमांसा भाष्य	श्रीकंठ शिवाचार्य	१०९–११२
(४०) तत्वार्थ प्रदीप	वल्लभाचार्य	११४
(४१) उपदेश सहस्री	स्वा० शंकराचार्य	१२५
(४२) पंचदशी	विद्यारण्य स्वामी	
(४३) गीतारहस्य	लोकमान्य तिलक	१३६–१३७–१३८
(४४) ब्राह्मण सर्वस्व	पं० भीमसेन शर्मा	१५१
(४५) हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास	नर्मदाशंकर देव शंकर महता	१०५–१२०–१२१–१५३–१५४
(४६) उपनिषद् का उपदेश	पं० कोलिकेश्वर	१६५
(४७) माध्यमिक कारिका (बौद्ध)	भट्टाचार्य एम० ए०	१२२

प्रस्तुत निबन्ध में प्रमाण रूप से गृहीत हुए ग्रन्थों के निर्माताओं के समय आदि का

संक्षिप्त विवरण

—·—

जैन विद्वान्

उमास्वाति—

जैन साहित्य में दार्शनिक पद्धति का सूत्रपात इन्होंने ही किया है। इनके लिये जैनधर्म की श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के हृदय में समान आदर है। अतएव इनके बनाये हुए तत्त्वार्थ सूत्र पर दोनों ही पक्ष के विद्वानों ने अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं। जैन परम्परा से इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है परंतु इस विषय में वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य क्या है ? उसका अभी तक कोई यथार्थ निर्णय नहीं हुआ।

सिद्धसेन दिवाकर—

जैन-दार्शनिक साहित्य में इनका वही स्थान है जो वैदिक साहित्य में कुमारिल भट्ट, शङ्कर स्वामी उदयनाचार्य और

वाचस्पति मिश्र आदि दार्शनिक विद्वानों का है। जैन साहित्य में तर्क पद्धति को विशिष्ट स्वरूप देकर उसको सुचारु रूप से विकास में लाने का सब से प्रथम श्रेय इन्हीं को है। जैन साहित्य में इनसे प्रथम न्याय शास्त्र का कोई विशिष्ट ग्रन्थ बना हुआ उपलब्ध नहीं होता। पश्चाद् भावी अन्य जैन दार्शनिकों ने मात्र इन्हीं की शैली का अनुसरण किया है। इनकी कृतियों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि ये दर्शन शास्त्रों के पार-गामी, संस्कृत प्राकृत भाषा के प्रौढ़ पण्डित और अनुपम कवि थे। इनका बनाया हुआ न्यायावतार सचमुच ही जैन साहित्य में विशिष्ट न्याय पद्धति का एक सोपान है और इनके सम्मति, तर्क द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका आदि ग्रन्थ मध्य कालीन भारतीय दर्शन साहित्य के बहु मूल्य रत्न हैं। जैन परम्परा के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का समय विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। परंतु कई एक ऐतिहासिक विद्वान् इनका समय विक्रम की पांचवीं शताब्दी मानते हैं * लेकिन अभी तक इसका कोई संतोष जनक निर्णय नहीं हुआ। इनका जन्म स्थान तो विदित नहीं हुआ मगर उज्जयनी के आस पास में ही इन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया। ये जाति के ब्राह्मण और प्रथम वैदिक धर्म के अनुयायी थे। और बाद में इन्होंने वृद्ध वादी नाम के एक आचार्य के पास जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

---

* देखो हिन्द तत्व ज्ञान नुं इतिहास पृष्ठ १६६ पूर्वार्द्ध।

हरिभद्र सूरि—

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में इस नाम के कई आचार्य हो गये हैं। परंतु प्रस्तुत निबंध में जिनके ग्रन्थों का हमने उल्लेख किया है वे हरिभद्र सूरि सब से पुराने हैं। जोकि याकिनीमहत्तरा सूनु के नाम से प्रसिद्ध और १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता कहे व माने जाते हैं। जैन परम्परा के अनुसार इनका स्वर्गवास विक्रम सं० ५८५ में हुआ। अत: इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। परंतु गुजरात पुरातत्व के आचार्य मुनि श्री जिन विजय जी ने हरिभद्र सूरि के समय निर्णय पर जो गवेषणा पूर्वक निबंध लिखा है उसमें इनका समय विक्रम की आठवीं नववीं शताब्दी निश्चित किया है। × उनका यह निश्चय आज कल के ऐतिहासिक विद्वानों में माननीय भी हो चुका है।

हरिभद्र सूरि जाति के ब्राह्मण आचार सम्पन्न प्रतिभाशाली एक अनुपम विद्वान् हुए हैं। इनकी लोकोत्तर प्रतिभा ने अनेकान्त जय पताका, शास्त्रवार्ता समुच्चय, षड् दर्शन समुच्चय, योग बिंदु योग दृष्टि समुच्चय, और न्याय प्रवेशक सूत्रादि विविध विषय के अनेक ग्रन्थ रत्नों को उत्पन्न करके न केवल जैन साहित्य को ही गौरवान्वित बनाया किंतु भारतीय संस्कृत प्राकृत साहित्य रत्न के भाण्डागार को भी विशेष समृद्धिशाली बनाया। ऐसे अनुपम विद्वान् के लिये भारतीय जनता जितना अभिमान कर सके उतना कम है।

× देखो जैन साहित्य संशोधक भाग १, अंक १।

अमृतचन्द्र सूरि—

यह विद्वान् जैन धर्म की दिगम्बर शाखा में हुए हैं। इन्होंने कुन्दकुन्दाचार्य कृत समय सार, पर आत्म ख्याति नाम की टीका लिखी है और प्रवचनसार टीका, पंचास्ति काय टीका तत्वार्थसार पुरुषार्थ, सिद्ध्युपाय, पंचाध्यायी और तत्व दीपिका आदि ग्रन्थ भी इन्हीं के पवित्र मस्तिष्क की उपज हैं। दिगम्बर पट्टावली में लिखा है कि ये विक्रम संवत् १९६२ में विद्यमान थे अतः इनका समय विक्रम की दशवीं शताब्दी, सुनिश्चित है। *

विद्यानन्द स्वामी—

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में आचार्य विद्यानन्दी (विद्यानन्द स्वामी) दार्शनिक विषय के एक समर्थ विद्वान् हो गये हैं। जैन धर्म में दीक्षित होने के पूर्व यह दर्शन शास्त्रों के धुरीणतम विद्वान प्रतिभाशाली वैदिक धर्मालम्बी ब्राह्मण थे। उनकी जन्मभूमि मध्य-देश में थी। इनके रचे हुए अष्ट सहस्री, तत्वार्थश्लोक वार्तिका-लङ्कार युक्त्यनुशासन, और आप्त परीक्षादि ग्रन्थ इनकी चमत्कारिणी लोकोत्तर प्रतिभा का परिचय देने में पूर्णतया पर्याप्त हैं। ये असाधारण नैयायिक और उच्च कोटि के दार्शनिक और गद्य पद्य के अनुपम लेखक थे। इनके संबंध में श्रवणबेल गोला में प्राप्त हुए शिला लेखों से प्रतीत होता है कि इन्होंने कई एक राज सभाओं में जाकर विपक्षियों पर विजय प्राप्त की। अतः इनके

---

* देखो जैन ग्रन्थावलि जैन न्याय पृष्ठ ६०

द्वारा जैन धर्म में जो प्रगति हुई उसके लिये वह इनका चिरकाल तक ऋणी रहेगा। इतिहास गवेषकों ने इस तार्किक शिरोमणि का समय विक्रम को नवमीं शताब्दी सुनिश्चित किया है।ॐ

सिद्धर्षि—

इनके गुरु का नाम गर्गर्षि था। न्यायावतार (सिद्धसेन दिवाकर कृत) पर एक सुन्दर विवरण लिखने के अतिरिक्त उपमिति भव प्रपंच नाम का अध्यात्म विषय का बोध पूर्ण कथा ग्रन्थ भी इन्हीं का लिखा हुआ माना जाता है। ये महात्मा वि० सं० ९६२ में विद्यमान थे ऐसा ऐतिहासिक विद्वानों का मंतव्य है÷ इनकी विवृति पर मलधार गच्छीय हेमचंद्राचार्य के शिष्य राजशेखर सूरि ने टिप्पन लिखा है। ये वि० सं० १४०५ में विद्यमान थे।

चन्द्रप्रभ सूरि—

इनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी माना जाता है। प्रमेय रत्न कोष के अलावा दर्शन शुद्धि नामका भी एक प्रकरण ग्रन्थ इन्हीं का बनाया हुआ कहा जाता है और विक्रम संवत् ११५९ में इन्होंने पूर्णिमा गच्छ की स्थापना की थी। +

ॐ देखो अष्ट सहस्री, और श्लोक वार्तिकालंकार की प्रस्तावना। ये ग्रन्थ गान्धी नाथारंग जैन ग्रन्थ माला में प्रकाशित हुए हैं।

÷ देखो न्यायावतार की प्रस्तावना।

+ देखो जैन ग्रन्थावलि पृ० १३८।

वादिदेव सूरि--

इनका असली नाम देवसूरि है । वादी यह विशेषण उनकी शास्त्रीय प्रगल्भता के कारण है । ये महात्मा मुनिचंद्र सूरि के पट्टधर थे । इनका जन्म वि० सं० ११४३ में हुआ ११५२ में जैनमत की दीक्षा । ११७४ में आचार्य पद और १२२६ में इनका स्वर्गवास हुआ । वि० सं० ११८१ में सिद्धराज की सभा में दिगम्बर विद्वान् कुमुदचंद्र को इन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया । जैन परम्परा से श्रवण करने में आता है कि इन्होंने स्याद्वाद रत्नाकर नाम का ८४ हजार श्लोक प्रमाण का एक बड़ा ही उच्च कोटि का दार्शनिक ग्रन्थ लिखा है । परन्तु दुर्भाग्यवश से वह आज उपलब्ध नहीं होता ।*

रत्नप्रभसूरि--

ये प्रभाविक जैन विद्वान् वादि देवसूरि के शिष्य हैं । इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है । रत्नाकरावतारिका जैसा उत्तम दार्शनिक ग्रन्थ इन्हीं का निर्माण किया हुआ है इसके सिवाय उपदेश माला की दो घट्टी टीका के निर्माता भी यही माने जाते हैं । ÷

हेम चन्द्राचार्य--

इस महा पुरुष का जन्म विक्रम संवत् ११४५ की कार्तिक सुदि पूर्णिमा को हुआ था । ११५४ में चंद्रगच्छीय श्री देवचंद्र

---

* देखो जैन ग्रन्थावलि पृ० ८० । जैन ।

÷ देखो जैन ग्रन्थावलि पृ० ७८ । जैन ।

सूरि के पास इन्होंने दीक्षा व्रत ग्रहण किया और ११६२ में ये आचार्य पद पर नियुक्त हुए। तथा १२२९ में इनका स्वर्गवास हुआ + ये महापुरुष उस समय के प्रबल प्रतापी महाराजा कुमारपाल के गुरु थे। इनकी अगाध विद्या बुद्धि का अंदाजा लगाना कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है। आपकी अलौकिक प्रतिभा से उत्पन्न होने वाली महान् ग्रन्थराशि आज संसार के सारे विद्वानों को विस्मय में डाल रही है। साहित्य सम्बन्धी ऐसा कोई भी विषय नहीं जिस पर कि आपकी चमत्कार पूर्ण लेखिनी न उठी हो। न्याय व्याकरण काव्य कोष अलंकार छंद नीति और अध्यात्म आदि सभी विषयों पर आपने संस्कृत और प्राकृत भाषा में एक व अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। कहते हैं कि आपने अपने प्रशंसा जीवन काल में साढ़े तीनकरोड़ श्लोक प्रमाण ग्रंथों की रचना की है। परंतु दुर्भाग्य वश से आज वे सब उपलब्ध नहीं होते मगर जितने आज मिलते हैं उनकी संख्या भी कुछ कम नहीं। इसमें शक नहीं कि श्री हेमचंद्र सूरि ने भारतीय संस्कृत प्राकृत साहित्य की जो अनुपम सेवा की है उसके लिए समस्त भारतीय जनता उनकी चिरकाल तक ऋणी रहेगी।

मल्लिषेण सूरि--

ये आचार्य विक्रम की चौदवीं शताब्दी में हुए हैं। ये नागेन्द्र गच्छीय उदय प्रभसूरि के शिष्य थे। इन्होंने जिनप्रभ सूरि की

+ देखो कुमारपाल चरित्र की भाषा प्रस्तावना।

सहायता से शक सं० १२१४ में स्याद्वाद मंजरी नामक व्याख्या ग्रन्थ की रचना की थी।※

गुणरत्न सूरि—

ये विद्वान् विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में हुए हैं। इनके गुरु का नाम देवसुन्दर सूरि था। विक्रम सं० १४६६ में इन्होंने क्रिया रत्न समुच्चय नाम के ग्रन्थ की रचना की है और तर्क रहस्य दीपिका (षड् दर्शन समुच्चय टीका) जैसा दार्शनिक ग्रन्थ भी इनका ही रचा हुआ है।

उ० विनय विजय जी—

ये महात्मा विक्रम की सत्रहवीं अठारहवीं सदीमें हुए हैं। इनके गुरु का नाम उ० कीर्ति विजय था। इनके ग्रन्थों से इनके समय का परिचय बराबर मिलता है। ये विद्वान् होने के अलावा बड़े शान्त और आचार सम्पन्न थे। अपने जीवन काल में इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषामें कई एक उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी

※ नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः ।
ते विश्ववंद्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः ॥ ६ ॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः ।
वृत्तिरियं मनुरवि (१२१४) मित शाकाब्दे दीपमहसिशनौ ॥७॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।
श्रुता वुतं सतुसतां वृत्तिः स्याद्वाद मंजरी ॥ ८ ॥
(स्याद्वाद मं० की प्रशस्ति)

रचना की है। उनमें कल्पसूत्र की सुखबोधिका टीका[1] लोक प्रकाश[2] हैम लघु[3] प्रक्रिया नयकर्णिका और शान्त सुधारस विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी--

ये महानुभाव जैन दर्शन के एक अनुपम भूषण थे। इनके समान मेधावी ढूंढ़ने पर भी कम मिलेगा। विद्या के हर एक विषय में इनकी अव्याहत गति थी। इनकी ग्रन्थ रचना और तर्क शैली आज बड़े बड़े विद्वानों को चकित कर रही है। इनकी चमत्कारिणी प्रतिभा और प्रकाण्ड पाण्डित्य के उपलक्ष में काशी की विद्वत्सभा ने इनको न्याय विशारद की पदवी प्रदान की थी। और एक शत ग्रन्थ निर्माण के बदले वहीं से इनको न्यायाचार्य का विशिष्ट पद प्राप्त हुआ था + ये शत ग्रन्थों के निर्माता के

---

(१) रचना काल वि० सं० १६६६। श्लोक प्रमाण ६०००।

(२) रचना समय वि०सं० १७०८ श्लोक संख्या १७६११।

(३) रचना का समय वि० सं० १७१० मूलश्लोक प्रमाण २५०००। स्वोपज्ञ टीका श्लोक संख्या ३५०००।

इनके विषय में अधिक देखने की इच्छा रखने वाले नयकर्णिका की गुजराती प्रस्तावना को देखें।

+ इसके लिये एक जगह पर ये स्वयं लिखते हैं—

पूर्वं न्यायविशारदत्व बिरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः। न्यायाचार्यपदं ततः शतग्रन्थस्य यस्यार्पितम्।

शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुस्तत्वं किंचिदिदं यशोविजय इत्याख्या मुदा ख्यातवान् (त० भा०)

नाम से प्रसिद्ध हैं। दुर्भाग्यवश वे सब के सब इस समय नहीं मिलते उनमें से जितने ग्रन्थ आज उपलब्ध होते हैं वे जैन साहित्य भण्डार के एक अमूल्य रत्न हैं। इनके न्याय खण्डन खण्डखाद्य, और स्याद्वाद कल्पलता आदि ग्रंथों के देखने का जिस विद्वान् को सौभाग्य प्राप्त हुआ हो वह निस्संदेह हमारे इस कथन का पूर्णतया समर्थन करेगा। इनका समय विक्रम की सत्रहवीं अठारहवीं सदी सुनिश्चित है। गुर्जर भाषा के वीरस्तव को इन्होंने वि० सं० १७३२ की विजय दशमी को समाप्त किया। ये उपाध्याय नय विजय के शिष्य थे। * ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् के लिये जैन जनता जितना गर्व करे उतना कम है।

वैदिक विद्वान्

कणाद ऋषि—

वैशेषिक सूत्रों के कर्त्ता कणाद ऋषि कब हुए इसका पूर्ण निश्चय अभी तक नहीं हुआ। कितने ऐतिहासिकों का अनुमान है कि वैशेषिक दर्शन की रचना गौतम के न्याय सूत्रों से प्रथम हुई है। (१) और अन्य इसे न्याय दर्शन से बाद का कहते हैं और उसकी न्यूनता का पूरक मानते हैं। (२) परन्तु वास्तविक तथ्य

---

* देखो शास्त्र वार्ता समुच्चय की संस्कृत प्रस्तावना।

(१) देखो हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास पृ० २२३ पूर्वार्द्ध।

(२) देखो रमेशदत्त लिखित प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास भाषानुवाद—"कणाद का तात्विक सिद्धान्तवाद गौतम के न्याय शास्त्र की पूर्ति है"। (पृ० १०६ भा० २)

अभी गवेषणीय है जो कि अधिकतया पुरातत्त्वज्ञों के परिष्कृत विचारों पर अवलंबित है।

प्रशस्त पादाचार्य्य—

वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद नाम के विख्यात भाष्य के रचयिता प्रशस्त पादाचार्य्य का समय आजकल के ऐतिहासिक विद्वानों ने ईसा की पांचवीं शताब्दी स्थिर किया है। इनका उक्त भाष्य बड़ा ही अनुपम और दार्शनिक जनता में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

वात्स्यायन मुनि—

ऐतिहासिक पंडितों का अनुमान है कि वात्स्यायन मुनि ईसा की चौथी शताब्दी में हुए। न्याय सूत्रों पर किया हुआ इनका भाष्य वात्स्यायन भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। ईसा की पांचवीं सदी [४९०] में होने वाले बौद्ध विद्वान् दिङ्नागने अपने "प्रमाणसमुच्चय" ग्रन्थ में इनके भाष्य पर समालोचनात्मक जो विवरण लिखा है उससे इनका चौथी सदी में होना विश्वसनीय है।

पतंजलि ऋषि—

महाभाष्यकार पतंजलि और योग सूत्रों के रचयिता पतंजलि दोनों एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न भिन्न इस बात का अभी तक पूरा निश्चय नहीं हुआ।

तथा महाभाष्यकार पतंजलि के समय में भी इतिहास वेत्ताओं का मत भेद है। किसी के मत में इनका समय ईसा से

तीन सौ वर्ष पहले का है और कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले मानते हैं तथा पंडित प्रवर सत्यव्रत सामश्रमी ने इनको ईसवी सन् से ४५० वर्ष पूर्व स्वीकार किया है + एवं योग सूत्रकार पतंजलि के विषय में भी मत भेद ही है। किसी के विचार में इनका समय ईसा की दूसरी से चौथी सदी तक है। कोई १५० वर्ष पूर्व मानते हैं और अन्य विद्वानों का कथन है कि ये ईसा के लगभग सौ वर्ष पहले हुए हैं †

महर्षि व्यास--

योग सूत्रों पर भाष्य करने वाले और महाभारत की रचना करने वाले व्यास यदि एक ही व्यक्ति हैं तो इनका समय ईसा से लगभग २०० वर्ष पूर्व का है। क्योंकि आजकल के इतिहासज्ञों ने महाभारत का समय प्रायः यही निश्चित किया है ‡ परन्तु लोकमान्य तिलक ने गीताकाल निर्णय में महाभारत का समय शक संवत् के आरम्भ से ५०० वर्ष पहले का माना है ÷ और यदि योग दर्शन पर भाष्य लिखने वाले व्यास इनसे--महाभारतीय

+ देखो उनका निरुक्तालोचन पृष्ठ ७२।

† बादरायण प्रणीत ब्रह्म सूत्र का समय ई० स० १०० वर्ष पूर्व का माना जाय तो महाभारत इससे पहिले का है। पतंजलि के योग सूत्र का समय भी इसी के लगभग है।

[महाभारत मीमांसा पृ० ६४। हिन्दी अनुवाद]

‡ देखो हिंदतत्वज्ञाननो इतिहास पृष्ठ १५५ उत्तरार्द्ध।

÷ देखो उनका गीतारहस्य हिन्दी अनुवाद पृ० ५६२।

व्यास से—भिन्न हैं तब तो इनका समय हमारे ख्याल में—अनिश्चित एवं संदिग्ध सा ही है। तथा जिन लोगों ने योग सूत्र कार पतंजलि का समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना है उनके मत से तो ये ईसाकी तीसरी शताब्दी से पहले के नहीं होने चाहियें परन्तु इनके विषय में वास्तविक तथ्य अभी तक, स्फुट नहीं हुआ।

कुमारिल भट्ट—

मीमांसक धुरीण महामति कुमारिल भट्ट की दिगन्त व्यापिनी कीर्तिका आभास दार्शनिक जगत् में आज भी मूर्तिमान् होकर दिखाई दे रहा है। वैदिक धर्म के अभ्युदयार्थ इन्होंने अपने जीवन काल में जिस कदर कष्ट उठाये हैं उनसे इनकी धर्म विषयिणी अनन्य भक्ति का पूरा सबूत मिल रहा है। इनके समय में वैदिक धर्म को फिर से जो प्रगति मिली है तदर्थ वह आप का चिरकाल तक कृतज्ञ रहेगा। इतिहास वेत्ताओं ने इनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी—[७०० से ७८० तक] सुनिश्चित किया है। मीमांसा श्लोक वार्तिक और तंत्र वार्तिक आदि ग्रन्थ इनके प्रकाण्डपांडित्य के ज्वलन्त आदर्श हैं।

स्वामि शंकराचार्य—

अद्वैत मत के प्रधान आचार्य स्वामी शंकराचार्य के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि वे तत्कालीन दार्शनिक युग में एक ही थे। इनके समान प्रभाव और विद्या वैभव रखने वाली दार्शनिक व्यक्तियें बहुत कम हुई हैं। कुमारिल भट्ट के बाद

वैदिक धर्म की निर्वाणासन्न ज्योति को प्रचण्ड करने वाले ये ही महापुरुष हुए हैं। प्रस्थानत्रयी-उपनिषद्-गीता और ब्रह्मसूत्र-पर इनके जो भाष्य हैं वे इनकी कीर्ति के सुदृढ़ स्तम्भ हैं। भारतवर्ष की चारों दिशाओं में इनके द्वारा स्थापन किये गये मठ, इनकी दिग्विजय का आजभी प्रमाण दे रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शंकर स्वामी के द्वारा वैदिक धर्म को आशातीत प्रगति मिली।

सम्प्रदायानुसार इनका समय कुछ भी हो परन्तु वर्त्तमान समय के इतिहासज्ञ विद्वानों ने इनका समय ईसा की आठवीं नवमी (७८८-८२०) शताब्दी निश्चित किया है। विक्रम की आठवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक इनके विचारों को और भी सुदृढ़ बनाने के लिये इनके अनुगामी भारतीय विद्वानों ने बड़े बड़े प्रौढ़ और उच्च कोटि के दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण किया* और इनके मत का समर्थन करने वाले दार्शनिक साहित्य में आशातीत वृद्धि हुई।

वाचस्पति मिश्र—

दार्शनिक विद्वानों में वाचस्पति मिश्र का स्थान बहुत ऊंचा है। प्रत्येक शास्त्र में इनकी अव्याहत गति थी। इनके समान दर्शन शास्त्रों के मार्मिक विद्वान् बहुत ही अल्प हुए हैं। इनकी लेखन पद्धति बड़ी ही प्रसन्न और गम्भीर है। इनके रचे हुए

---

* वे ग्रन्थ और ग्रन्थनिर्माताओं के नाम आदि के विषय में देखो हिं० त० नो० इतिहास पृ० २१६—२१८ तक।

ग्रन्थ, गुणगरिमा में एक दूसरे से स्पर्द्धा कर रहे हैं। इनकी सार्वदेशिक प्रतिभा का प्रकाश, सांख्य योग, वेदान्त न्याय और मीमांसा आदि दर्शनों पर इनके लिखे हुए ग्रन्थों में से पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहा है। इन्होंने भामति (शांकर भाष्य व्याख्या) सांख्य तत्व कौमुदी (सांख्य कारिका व्याख्या) तत्व विशारदी (योग भाष्य व्याख्या) तात्पर्य टीका (उद्योतकार के न्याय वार्तिक पर) न्याय सूची (स्वतो निबंध) न्यायकर्णिका (मंडन मिश्रकृत विधि विवेक की टीका) और कुमारिल भट्ट के विचारों पर तत्वविन्दु आदि अनेक ग्रन्थ रत्नों द्वारा भारतीय दार्शनिक साहित्य की सौभाग्य श्री को अलंकृत किया है। ये नृग राजा के समय में हुए हैं और जाति के ये मैथिल ब्राह्मण थे। इनका समय विक्रम की नवमी शताब्दी कहा व माना जाता है।

पार्थसार मिश्र—

पारथसार मिश्र, मीमांसा दर्शन के धुरीणतम विद्वान् थे। इनका रचा हुआ शास्त्र दीपिका नाम का ग्रंथ इनके प्रतिभा-उत्कर्ष का नमूना है। इसके सिवाय इन्होंने न्याय रत्नाकर (श्लोक वार्तिक व्याख्या) तंत्र रत्न और न्याय माला आदि मीमांसा दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले और भी ग्रंथ लिखे हैं। ये महामति कुमारिल भट्ट के अनुयायी थे। इनका समय विक्रम की दसवीं और बारहवीं सदी के दरम्यान का निश्चित होता है।

भास्कराचार्य—

स्वामी शंकराचार्य के बाद उनके सिद्धान्त का सब से पहिले प्रतिवाद भास्कराचार्य ही ने किया। ये अच्छे समर्थ विद्वान् हुए हैं। बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र पर इनका लिखा हुआ भाष्य दर्शनीय है। ऐतिहासिक विद्वानों ने इनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्थिर किया है*

रामानुज स्वामी—

रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत के प्रधान आचार्य होगये हैं। शंकराचार्य की भांति इन्होंने भी प्रस्थानत्रयी पर प्रासादमयी संस्कृत भाषा में विशालकाय भाष्यों की रचना की है। जोकि श्री भाष्य (ब्रह्मसूत्र पर) वेदान्तदीप, वेदान्त सार, वेदान्तार्थ संग्रह और श्री मद्भगवद्गीता भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके जीवन का इतिहास बड़ा विलक्षण है परन्तु स्थान के संकोच से हम उसे यहां पर देने में असमर्थ हैं। इनका समय ईस्वी सन् १०१७ से ११३७ तक का माना गया है। इनके विशिष्टाद्वैत का दक्षिण देश-विष्णु कांची आदि में अधिक साम्राज्य है।

निम्बार्काचार्य—

ये आचार्य स्वाभाविक भेदाभेद के संस्थापक हैं। इनका समय भास्कराचार्य के निकटवर्ती है। इन्होंने ब्रह्म सूत्रों पर वेदान्त पारिजातसौरभ नाम का एक छोटा भाष्य लिखा है।

---

* देखो—भास्करीय भाष्य की संस्कृत प्रस्तावना ?

श्रीकंठ शिवाचार्य—

इन्होंने शिव विशिष्टाद्वैतमत की स्थापना की। इनका समय यद्यपि सुनिश्चित नहीं तथापि ईसा की पंद्रवीं सदी में इनके होने का अनुमान ऐतिहासिकों ने बांधा है।

वल्लभाचार्य—

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक श्री वल्लभाचार्य का समय वि० की सोलहवीं सदी माना जाता है। इनका जन्म सं० १५३५ और स्वर्गवास १५८६ में हुआ। ब्रह्मसूत्र पर अणु भाष्य नाम का ग्रन्थ इन्हीं का रचा हुआ है। ये तैलंग ब्राह्मण थे ×।

विज्ञानभिक्षु—

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में हुए हैं। ब्रह्मसूत्रों पर इनके लिखे हुए विज्ञानामृत भाष्य का परिचय हम प्रस्तुत निबंध में दे चुके हैं। इसके अलावा वर्त्तमान सांख्य सूत्रों पर इनका बनाया हुआ सांख्य प्रवचन भाष्य भी है तथा पातञ्जल भाष्य पर इन्होंने एक वार्तिक भी लिखा है। इन ग्रंथों के अवलोकन से जान पड़ता है कि ये अच्छे दार्शनिक विद्वान् थे।

विद्यारण्य स्वामी—

यह महात्मा सर्व शास्त्रों के प्रौढ़ विद्वान् थे। इनका पञ्चदशी नाम का प्रकरण ग्रंथ वेदान्त शास्त्र में प्रवेश करने के लिये एक उत्तम सोपान रूप है। इसके अलावा शंकर दिग्विजय, विवरण प्रमेयसंग्रह और जीवनमुक्तिविवेक आदि ग्रंथ भी इन्हीं के रचे हुए हैं। इनका दूसरा नाम माधवाचार्य भी कहा जाता है। यह महात्मा विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में हुए हैं।

× देखो हिं० त० इतिहास पृ० २४८ उत्तरार्द्ध।

आनन्दगिरि--

इन्होंने ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य पर न्यायनिर्णय नाम की एक सुन्दर टीका लिखी है। इसके सिवाय भगवद्गीता पर इन की आनन्दगिरि नाम की टीका प्रसिद्ध है। इनका समय विक्रम की चौदहवीं सदी का उत्तरार्द्ध है। और ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पर रत्नप्रभा नाम की टीका के कर्ता गोविन्दानन्द स्वामी भी इन्हीं के समकालीन प्रतीत होते हैं।

धर्मराज दीक्षित—

वेदान्त परिभाषा के कर्ता धर्मराज दीक्षित का समय १५५० ई० है इनकी यह पुस्तक वेदान्त न्याय में प्रवेश करने के लिये एक सुन्दर द्वार है।

शङ्कर मिश्र—

इनका समय ई० सन् १६०० के लगभग है। वैशेषिक सूत्रों पर इनकी उपस्कार नाम की स्वतन्त्र व्याख्या बड़ी उत्तम और पदार्थ विवेचन के लिये बड़ी उपयोगी है।

नागार्जुन—

माध्यमिक मत (शून्यवाद) के प्रधान आचार्य बौद्ध विद्वान् नागार्जुन का समय ईशा की दूसरी शताब्दी है। बौद्ध सम्प्रदाय में यह बड़े ही समर्थ थे और विख्यात विद्वान् हुए हैं।

इनके सिवाय प्रस्तुत निबन्ध में और जिन ग्रन्थकारों का उल्लेख आया है वे प्रायः विक्रम की उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में हुए हैं।

विषय-सूची।

[परिशिष्ट प्रकरण]

मध्यस्थवादमालायास्तृतीयं पुष्पम्।

दर्शन और अनेकान्तवाद।

चराचरस्वरूपाय विरूपायात्मने नमः।
अजाय जायमानाय, मायातीताय मायिने ॥१॥

आरम्भिक निवेदन

रतीय आस्तिकदर्शनों में अनेकान्तवाद को मुख्य स्थान देते हुए जिस दर्शन में अध्यात्म तत्वों का सुव्यवस्थित विचार किया गया है, वह दर्शन जैन दर्शनके नाम से प्रसिद्ध है। आज हम अपने मध्यस्थ पाठकों को जैन दर्शन के उसी अनेकान्तवाद का कुछ परिचय दिलाने का प्रयत्न करते हैं। हमारे ख्याल में भारतीय प्राचीन तथा अर्वाचीन, कतिपय दार्शनिक विद्वानों ने जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का जो स्वरूप सभ्यसंसार के सामने रखा है वह उसका यथार्थ स्वरूप नहीं। उन्होंने अनेकान्तवाद का स्वरूप

प्रदर्शन और उसकी प्रतिवादात्मक आलोचना करते समय बहुधा साम्प्रदायिक विचारों से ही काम लिया है अर्थात् साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण ही कितने एक विद्वानों ने अनेकान्तवाद को संदिग्ध तथा अनिश्चित वाद कह कर उसे पदार्थ निर्णय में सर्वथा अनुपयोगी और उन्मत्तपुरुषों का प्रलाप मात्र बतलाया है। (१) परन्तु हमारी धारणा इसके प्रतिकूल है। हमारे विचार में तो अनेकान्त वाद का सिद्धान्त बड़ा ही सुव्यवस्थित और परिमार्जित सिद्धान्त है। इसका स्वीकार मात्र जैन दर्शन ने ही नहीं किया किन्तु अन्यान्य दर्शन शास्त्रों में भी इसका बड़ी प्रौढ़ता से समर्थन किया गया है। अनेकान्त वाद वस्तुतः अनिश्चित एवं संदिग्धवाद नहीं किंतु वस्तु स्वरूप के अनुरूप सर्वांग पूर्ण एक सुनिश्चित सिद्धान्त है। इसी विषय में हम अपने पर्यालोचित विचारों को मध्यस्थ पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। आशा है पाठकगण हमारे विचारों को निस्पक्षतया विवेकदृष्टि से ही अवलोकन करने की कृपा करेंगे।

---

(१) देखो—ब्रह्मसूत्र २–२—३३ का—शांकरभाष्य, विज्ञान भिक्षुका विज्ञानामृत भाष्य, श्रीकंठ शिवाचार्य का भाष्य, वल्लभाचार्य का अणुभाष्य, और रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य आदि ग्रन्थों का उल्लेख। इनके लेख पर जो कुछ वक्तव्य होगा उसका जिकर अन्त के परिशिष्ट प्रकरण में किया जावेगा।

[अनेकान्तवाद का स्वरूप और पर्याय]

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का मुख्य विषय है। जैन तत्व ज्ञान की सारी इमारत अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है वास्तव में इसे जैन दर्शन की मूल भित्ति समझना चाहिये। अनेकान्त शब्द, एकान्तत्व—सर्वथात्व—सर्वथा एवमेव—इस एकान्त निश्चय का निषेधक और विविधता का विधायक है सर्वथा एक ही दृष्टि से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण समझकर ही जैन दर्शन में अनेकान्तवाद को मुख्य स्थान दिया गया है। अनेकान्तवाद का अर्थ है, पदार्थ का भिन्न भिन्न दृष्टि बिन्दुओं—अपेक्षाओं से पर्यालोचन करना, तात्पर्य कि एक ही पदार्थ में भिन्न २ वास्तविक धर्मों का सापेक्षतया स्वीकार करने का नाम अनेकान्तवाद है। यथा एक ही पुरुष अपने भिन्न २ सम्बन्धिजनों की अपेक्षा से पिता पुत्र और भ्राता आदि संज्ञायों से सम्बोधित किया जाता है इसी प्रकार अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में अनेक धर्मों की सत्ता प्रमाणित होती है।

स्याद्वाद, अपेक्षावाद और कथंचित्वाद अनेकान्तवाद के ही पर्याय-समानार्थवाची शब्द हैं। स्यात्[1] का अर्थ है

नोट—कितने एक लोग स्यात् का अर्थ शायद, कदाचित् इत्यादि संशय रूप में करते हैं परन्तु यह उनका भ्रम है।

१—अत्र सर्वथात्व निषेध कोऽनेकान्त ताद्योतक: कथंचिदर्थेस्याच्छब्दो निपातः। इति पंचास्तिकाय टीका (अमृत चंद्र सूरि श्लो० १४ की व्याख्या पृ० ३०)

कथंचित् किसी अपेक्षा से स्यात् यह सर्वथात्व-सर्वथापन-का निषेधक अनेकान्तताका द्योतक कथंचित् अर्थ में व्यवहृत होने वाला अव्यय[१] है। इस पर अधिक विवेचन हम सप्तभंगी के स्वतंत्र निरूपण में करेंगे।

जैन दर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्त नहीं मानता उसके मत से पदार्थ मात्र ही अनेकान्त है। केवल एक ही दृष्टि से किये गये पदार्थ निश्चय को जैन दर्शन अपूर्ण समझता है। उसका कथन है कि पदार्थ का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि उसमें हम अनेक प्रतिद्वन्द्वी परस्पर विरोधी धर्मों को देखते हैं अब यदि वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों में से किसी एक ही धर्म को लेकर उसका—वस्तु का—निरूपण करें। और उसी को सर्वांश से सत्य समझें तो यह विचार अपूर्ण एवं भ्रांत ही ठहरेगा। क्योंकि जो विचार एक दृष्टि से सत्य समझा जाता है तद्विरोधि विचार भी दृष्ट्यन्तर से सत्य ठहरता है। उदाहरणार्थ किसी एक पुरुष व्यक्ति को लीजिये। अमुक नाम का एक पुरुष है उसे कोई पिता और कोई पुत्र कोई भाई अथवा भतीजा चाचा अथवा ताया कहकर पुकारता है एक पुरुष की इन भिन्न २ संज्ञाओं से प्रतीत होता है कि उसमें पितृत्व, पुत्रत्व और भ्रातृत्व आदि अनेक धर्मों की सत्ता मौजूद है। अब यदि उसमें रहे हुये केवल पितृत्व धर्म की ही ओर दृष्टि रखकर उसे सर्व प्रकार से पिता ही मान बैठें

१—स्यादित्य व्यय मनेकान्त द्योतकम्। ततः स्याद्वादः। अनेकान्त वादः नित्यानित्याद्यनेक धर्मशबलैक वस्त्व भ्युपगमः इति यावत्। (स्याद्वाद मंजरी का० ५ पृ० १४)।

तब तो बड़ा अनर्थ होगा वह हर एक का पिता ही सिद्ध होगा परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है वह पिता भी है और पुत्र भी अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है और स्वकीय पिता की अपेक्षा वह पुत्र कहलायेगा। इसी प्रकार भिन्न २ अपेक्षाओं से इन सभी उक्त संज्ञाओं का उसमें निर्देश किया जा सकता + है। जिस तरह अपेक्षा भेद से एकही देवदत्त व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व ये दो विरोधी धर्म अपनी सत्ता का अनुभव कराते हैं उसी तरह हर एक पदार्थ में अपेक्षा भेद से अनेक विरोधि धर्मों की स्थिति प्रमाण सिद्ध है। यह दशा सब पदार्थों की है उनमें नित्यत्व आदि अनेक धर्म दृष्टि गोचर होते हैं इसलिये पदार्थ का स्वरूप एक समय में एक ही शब्द द्वारा सम्पूर्णतया नहीं कहा जासकता और नाही वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों में से किसीएक ही धर्म को स्वीकार करके अन्य धर्मों का अपलाप किया जा सकता है। अतः केवल एक ही दृष्टि विन्दु से पदार्थ का अवलोकन न करते हुए भिन्न २ दृष्टि विन्दुओं से ही उसका अवलोकन करना न्याय संगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप होगा बस, संक्षेप से जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का यही तात्पर्य हमें प्रतीत होता है। जैनदर्शन के इस सिद्धान्त का वैदिक दर्शनों में किस रूप में और किस प्रौढ़ता से समर्थन किया है इसका दिग्दर्शन हम आगे चल कर

(+)—एकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधि भेदात् पितृत्व, पुत्रत्व मातुलत्व, भागनेयत्त्व, पितृव्यत्व, भ्रातृत्वादि धर्माणां परस्पर विरुद्धानामपि प्रसिद्धि दर्शनात्। (इति स्याद्वादमंजरी कारो मल्लिषेणाचार्यः) कारिका २३ पृष्ठ १७६।

करायेंगे। दर्शन शास्त्रों के परिशीलन से हमारा इस बात पर पूर्ण विश्वास हो गया है कि अनेकान्तवाद का सिद्धांत, अनुभव सिद्ध स्वाभाविक तथा परिपूर्ण सिद्धांत है। इसकी स्वीकृति का सौभाग्य किसी न किसी रूप में सभी दार्शनिक विद्वानों को प्राप्त हुआ है। अनेकान्तवाद के सिद्धांत की सर्वथा अवहेलना करके कोई भी तात्विक सिद्धांत परिपूर्णता का अनुभव नहीं कर सकता ऐसा हमारा विश्वास है।

[पदार्थों का व्यापक स्वरूप]

विश्व के पदार्थों का भली भांति अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वे सब उत्पत्ति, विनाश और स्थिति से युक्त हैं। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। जहां हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करते हैं वहां पर उसकी स्थिरता का भी अविकल रूप से भान होता है। उदाहरण के लिये एक सुवर्ण पिण्ड को ही लीजिये ? प्रथम सुवर्ण पिण्ड को गला कर उसका कटक (कड़ा) बना लिया गया और कटक का ध्वंस करके उसका मुकुट तैयार किया गया यहां पर सुवर्ण पिण्ड के विनाश से कटक की उत्पत्ति और कटक के ध्वंस से मुकुट का उत्पन्न होना देखा जाता है परन्तु इस उत्पत्ति विनाश के सिलसिले में मूल वस्तु सुवर्ण की सत्ता बराबर मौजूद है। पिण्ड दशा के विनाश और कटक की उत्पत्ति दशा में भी सुवर्ण की सत्ता मौजूद है एवं कड़ेके विनाश और मुकुट के उत्पाद काल में भी सुवर्ण बराबर विद्यमान है। इससे यह सिद्ध

हुआ कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के केवल आकार विशेष का होता है न कि मूल वस्तु का। मूल वस्तु तो लाखों परिवर्तन होने पर भी अपनी स्वरूप स्थिरता से सर्वथा च्युत नहीं होती। कटक कुण्डलादि, सुवर्ण के केवल आकार विशेष हैं इन आकार विशेषों का ही उत्पन्न और विनष्ट होना देखा जाता है। इनका मूल तत्व सुवर्ण तो उत्पत्ति विनाश दोनों से अलग है। इस उदाहरण से यह प्रमाणित हुआ कि पदार्थ में उत्पत्ति विनाश और स्थिति ये तीनों ही धर्म स्वभाव सिद्ध हैं। किसी भी वस्तु का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता। वस्तु के किसी आकार विशेष का विनाश होने से यह नहीं समझना चाहिये कि वह बिल्कुल नष्ट हो गई, नहीं ? वह अपने एक नियत आकार को छोड़ कर आकारान्तर को धारण कर लेती है अतः मूल स्वरूप से वस्तु न तो सर्वथा नष्ट होती है और न ही सर्वथा नवीन उत्पन्न होती है किन्तु मूल वस्तु के आकार में जो विशेष २ प्रकार के परिवर्तन होते हैं वे ही उत्पत्ति और विनाश के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। मूल द्रव्य तो आकार विशेष की उत्पत्ति समय में भी स्थित है और उसके—आकार विशेष के—विनाश काल में भी विद्यमान है अतः जगत के सारे ही पदार्थ उत्पत्ति विनाश और स्थिति शील हैं, यह बात भलीभांति प्रमाणित हो जाती है। इसी आशय से जैन ग्रन्थों में "उत्पाद[१] व्यय्ध्रौव्य युक्तं सत्" यह पदार्थ का लक्षण निर्दिष्ट किया है।

---

(१) उमास्वाति विरचित तत्वार्थाधिगम सूत्र अ० ५ सू० २६

भाष्यम्—उत्पाद व्ययौ ध्रौव्यंच युक्तं सतो लक्षणम्। यद्रुत्पद्यतेय द्रव्ययेति पच्चध्रुवं तत्सत् अतोऽन्यदसदिति ॥

यहां पर उत्पाद व्यय को पर्याय और ध्रौव्य को द्रव्य के नाम से अभिहित करके वस्तु–पदार्थ–को द्रव्य[1] पर्यायात्मक भी कहा है। द्रव्य स्वरूप नित्य और पर्याय स्वरूप अनित्य है। द्रव्य नित्यस्थायी और पर्याय बदलते रहते हैं।

[महर्षि पतञ्जलि]

जैन दर्शन के उक्त सिद्धान्त का महर्षि पतञ्जलि ने भी महाभाष्य के पशपशाह्निक में निम्नलिखित शब्दों में बड़ी सुन्दरता से समर्थन किया है अर्थात् उन्होंने भी उक्त सिद्धान्त का स्पष्टतया निम्नलिखित शब्दों में प्रतिपादन किया है। तथा हि—

द्रव्यं नित्य माकृति रनित्या, सुवर्णं कया चिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्यकटकाः क्रियन्ते कटकाकृतिमुपमृद्य स्वास्तिकाः क्रियन्ते पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्यायुक्तः

जैन आगमों में भी इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है यथा—

उप्पज्जेइवा विगमेइवा धुवेइवा—

वस्तु तत्वं च उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मकम् । (स्याद्वाद मंजरी पृ० १४८)

(१) वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्व मिति भ्रमः (स्या० वा० मं० पृ० १३)

खदिरांगार सदृशे कुण्डले भवतः । आकृति रन्या-न्याचभवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

अर्थात्—द्रव्य—मूलपदार्थ—नित्य और आकृति—आकार-पर्याय-अनित्य हैं । सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकार से पिण्ड रूप बनता है पिण्ड का विध्वंस करके उसके रुचक-दीनार-मोहर-बनाये जाते हैं, रुचकों का विनाश करके कड़े और कड़ों के ध्वंस से स्वस्तिक बनाते हैं एवं स्वस्तिकों को गलाकर फिर सुवर्ण पिण्ड तथा उसकी विशिष्ट आकृति का उपमर्दन करके खदिरांगार सदृश दो कुण्डल बना लिये जाते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि आकार तो उत्तरोत्तर बदलते रहते हैं परन्तु द्रव्य वास्तव में वही है आकृति के विनष्ट होने पर भी द्रव्य शेष रहता है ।

महाभाष्यकार के इस कथन से द्रव्य की नित्यता और पर्यायों की विनश्वरता ये दोनों बातें असंदिग्धरूप से प्रमाणित होगईं । तथा द्रव्य का धर्मी और पर्याय का धर्म रूपसे भी निर्देश होता है । सुवर्ण तथा मृत्तिका रूप द्रव्य धर्मी, कटक कुंडल और घट शराव आदि उनके धर्म कहे व माने जाते हैं । इनमें धर्मी-अविनाशी और धर्म परिवर्तन शील हैं, क्योंकि सुवर्ण तथा मृत्तिका के कटक कुंडल और घटशरावादि धर्म तो उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं परन्तु सुवर्ण तथा मृत्तिकारूप धर्मी द्रव्यतो धर्मों के उत्पाद और विनाशकाल में भी सदा अनुगत रूप से ही अपनी स्थिति का भान कराते हैं ।

[मीमांसक धुरीण पार्थसार मिश्र]

मीमांसा दर्शन के धुरंधर पंडित पार्थसार मिश्र ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **शास्त्र दीपिका** में भी इस बात का सुचारू रूप से उल्लेख किया है।

आप लिखते हैं—

(१) अतो न द्रव्यस्य कदाचिदागमापायो वा घटपट गवाश्व शुक्ल रक्ता व्यवस्थानामेवागमापायौ—आहच—

"आविर्भाव तिरोभाव धर्मकेष्वनुयायि यत् ।
तद्धर्मी तत्र चज्ञानं प्राग्धर्मग्रहणात् भवेत् ॥ तथा च—

यादृशमस्माभिरभिहितं द्रव्यं तादृशस्यैवहि सर्वस्य गुणएव भिद्यते न स्वरूपम् ।

अर्थात्—द्रव्य–मृत्तिकादिरूप–का कभी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता किन्तु उसके रूप और आकारादि विशेष का ही उत्पादविनाश होता है । [आचार्य कुमारिल भट्ट कहते हैं] उत्पत्ति और विनाश शील धर्मों में अन्वयरूप से जिसकी उपलब्धि होती है वह धर्मी है । मृत्पिंड का ध्वंस और घटकी उत्पत्ति तथा श्यामवर्ण का विनाश और रक्तवर्ण का उत्पाद आदि उत्पत्ति विनाश के सिलसिले में मृत्तिका रूप द्रव्य का बराबर अनुभव होता है । जो मृत्तिका पिण्डाकार में रहती है

---

(१) शास्त्रदीपिका पृ० १४६–४७ [विद्याविलास प्रेस काशी]

वही मृत्पिंड के विनष्ट होने पर घट के आकार में दृष्टि गोचर होती है अतः उत्पाद विनाशस्वभाविधर्मों में मृत्तिका रूप द्रव्य को सर्वत्र अनुगत होने से वह धर्मी कहाता है [एक और प्राचीन विद्वान का कथन है] कि द्रव्य के स्वरूप का कभी भेद नहीं होता किन्तु उसके गुणों का भेद होता है। इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थों में उत्पति विनाश और स्थिति ये तीनों धर्म बराबर रहते हैं।

[व्यासदेव]

ऋषि व्यासदेव प्रणीत पातञ्जलयोग भाष्य में भी उक्त सिद्धान्त का ही निम्न लिखित शब्दों में जिकर पाया जाता है। तथाहि—

नोट—उक्त स्थल की टीका इस प्रकार है—

द्रव्यस्यमृदादेर्नागमः उत्पत्तिः नापायः विनाशः किन्तु रूपादीना माकारस्य चागमापायौ भवतः । घटादिशब्देन घटाद्याकृतिर्ज्ञेया । अत्रश्री भट्टपादस्य सम्मतिमाह—आविर्भावेति—उत्पत्ति विनाश शालिपु धर्मेषु यद-नुयायि—अनुस्यूतं तद्धर्मि । यथाश्याम रक्तादि रूपेषु पिंड कपालाद्याकृतिषु चानुस्यूतं मृद् द्रव्यमेव धर्मि । किंच धर्मग्रहणात् प्राक् यत्र यद्विषयि कं ज्ञानं स्यात् तद्धर्मि । यथा मंदांधकारे रूपादि ग्रहणात् प्रथममेव यद्गृह्यते घट द्रव्यं तद्धर्मीत्यर्थः ।…………………अत्र प्रमाणांतर माह—याद्दशमिति । याद्दशम्—आगमापायिषु धर्मेष्वनुस्यूतं द्रव्यमस्माभिरुक्तं ताद्दशस्यैवसर्वस्य द्रव्यस्यगुणादिरेव भिद्यंत न स्वरूप मपिभिद्यत इत्यर्थः ।

[टीकाकारः सुदर्शनाचार्यः]

[तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागत वर्तमानेषु भावान्यथात्वंभवति न द्रव्यान्यथात्त्वं यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्वाऽऽन्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्त्वं[1] भवति न सुवर्णान्य थात्त्वमिति । [विभूतिपाद सू० ११ का भाष्य]

जैसे रुचक स्वस्तिकादि अनेक विध आकारों को धारण करता हुआ भी सुवर्ण पिंड अपने मूल स्वरूप का परित्याग नहीं करता, तात्पर्य कि रुचक स्वस्तिकादि भिन्न २ आकारों के निर्माण होने पर भी सुवर्ण असुवर्ण नहीं होता किन्तु उसके आकार विशेष ही अन्यान्य स्वरूपों को धारण करते हैं। इसी प्रकार धर्मी में रहने वाले धर्मों का ही अन्यथा भाव—भिन्न २ स्वरूप परिवर्तन—होता है धर्मिरूप द्रव्य का नहीं। धर्मी द्रव्य तो सदा अपनी उसी मूल स्थिति में रहता है। तथाच धर्मों का उत्पाद और विनाश एवं धर्मी का ध्रौव्य, अतः उत्पत्ति विनाश और स्थिति रूप वस्तु की सिद्धि में कोई न्यूनता प्रतीत नहीं होती।

हरिभद्रसूरिः

जैन विद्वान् हरिभद्र सूरि ने पदार्थों के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को एक और ही युक्ति द्वारा प्रमाणित किया है। आप लिखते हैं—

---

(१) भावः संस्थान भेदः सुवर्णादेर्यथा भाजनस्य रुचक स्वस्तिक व्यपदेश भेदो भवति तन्मात्र मन्यथा भवति नतु द्रव्यसुवर्णं मसुवर्णतामुपैति मत्यन्तभेदा भावादिति [टीकाकारो वाचस्पति मिश्रः ।]

"घटमौलि[1] सुवर्णार्थी, नाशोत्पत्ति स्थिति ष्वलम् ।
शोक प्रमोद माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥" *

कल्पना करो कि किसी वक्त तीन मनुष्य मिल कर किसी सुनार या सर्राफ़ की दुकान पर गये उनमें से एक को सुवर्ण-घट, दूसरे को मुकुट और तीसरे को मात्र सुवर्ण की आवश्यकता है। वहां जाकर वे क्या देखते हैं कि सुनार एक सोने के बने हुए घड़े को तोड़ कर उसका मुकुट बना रहा है। सुनार के इस

---

* शास्त्रवार्ता समुच्चय स्त० ७ श्लो० २ । पृ० २२३

इसकी स्याद्वाद कल्पलता नामकी टीका में जैनविद्वान यशो विजय जी इसका अर्थ इस प्रकार लिखते हैं—

घट मौलि सुवर्णार्थी सन्—प्रत्येकं सौवर्ण घट मुकुट सुवर्णान्यभिलषन् एकदा तन्नाशोत्पाद स्थितिषु सतीषु शोक प्रमोदमाध्यस्थ्यं सहेतुकं याति। तदैवहि घटार्थिनो घटनाशात् शोकः मुकुटार्थिनस्तु तदुत्पादात्प्रमोदः सुवर्णार्थिनस्तु पूर्वनाशाऽपूर्वोत्पादा भावात् नशोको नवाप्रमोदः किन्तु माध्यस्थ्य मिति दृश्यते। इदं च वस्तुनस्त्रैलक्षण्यं लक्षणं बिना दुर्घटम् घटनाशकाले मुकुटोत्पादानभ्युपगमे तदर्थिनः शोकानुत्पत्तेः घटादि विवर्त्तातिरिक्त सुवर्ण द्रव्यानभ्युपगमे च सुवर्णार्थिनोमाध्यस्थ्यानुपपत्तेः।

(१) इसी भाव को व्यक्त करने वाला "पंचाशत्ती" का एक और श्लोक भी कई एक जैन ग्रन्थों में लिखा हुआ देखा जाताहै वह इस प्रकार है।

"प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते।
पुत्रः प्रीति मुवाह कामपिनृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ॥
पूर्वाकारपरिक्षयस्त पराकारोदयस्तद्द्वया—
धारस्यैक इतिस्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथा प्रत्ययात् ॥

व्यापार को देख कर उन तीनों ही मनुष्यों के मन में भिन्न २ प्रकार का भाव पैदा हुआ। जिसको सुवर्ण-घट की जरूरत थी वह शोक करने लगा, जिसको मुकुट की आवश्यकता थी वह मन में आनन्द मनाने लगा और जिसे केवल सुवर्ण ही अभिलषित था उसे शोक वा हर्ष कुछ भी नहीं हुआ। किन्तु वह अपने मध्यस्थ भाव में ही रहा। अब यहां पर प्रश्न होता है कि इस प्रकार का भाव भेद क्यों ? यदि वस्तु, उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक न हो तो इस प्रकार के भाव भेद की उपपत्ति कभी नहीं हो सकती। घट प्राप्ति की इच्छा से आने वाले मनुष्य को घट के विनाश से शोक और मुकुटार्थी पुरुष को मुकुटोत्पत्ति से हर्ष एवं सुवर्ण मात्र की अभिलाषा रखने वाले को न हर्ष न शोक कुछ भी नहीं होता क्योंकि सुवर्ण रूप द्रव्य तो मुकुट की उत्पत्ति और घट के विनाश, इन दोनों ही दशाओं में बराबर विद्यमान् है। यदि घट विनाश काल में मुकुट की उत्पत्ति न मानी जाय तो घटार्थी पुरुष को शोक और मुकुटार्थी को हर्ष का होना दुर्घट सा हो जाता है। एवं घट मुकुटादि सुवर्णपर्यायों के अतिरिक्त, सुवर्ण रूप कोई द्रव्य ही यदि न माना जाय तो सुवर्णार्थी पुरुष के मध्यस्थभाव की उपपत्ति कभी नहीं हो सकती। परन्तु उक्त व्यापार में शोक, प्रमोद और माध्यस्थ्य ये तीनों भाव देखे अवश्य जाते हैं। इनका आकस्मिक अथवा निर्निमित्तक होना तो किसी प्रकार भी युक्ति युक्त नहीं, इसलिये वस्तु के स्वरूप को उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक मानना ही युक्ति संगत और प्रमाणानुरूप है।

इसके अतिरिक्त हरिभद्र सूरि ने एक और लौकिक उदाहरण से पदार्थ को उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया है वे कहते हैं कि जिस पुरुष को केवल दुग्ध ग्रहण का नियम है वह दधि नहीं खाता और जिसको दधि का नियम है वह दुग्ध का ग्रहण नहीं करता परन्तु एक पुरुष ऐसा है जिसने गोरस का ही त्याग कर दिया है, वह न दुग्ध को ग्रहण करता है और नाही दधि भक्षण करता[1] है। इस सुप्रसिद्ध व्यावहारिक नियम से दुग्ध का विनाश, दधि की उत्पत्ति और गोरसकी स्थिरता ये तीनों ही तत्त्व भली भांति प्रमाणित हो जाते हैं। दधि रूप से उत्पाद, दुग्ध रूप से विनाश और गोरस रूप से ध्रौव्य ये तीनों ही धर्म उक्त वस्तु में स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसी आशय से सुप्रसिद्ध जैन तार्किक, उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्मोपनिषत् में लिखा है—

उत्पन्नं दधि भावेन, नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरंजानन्, स्याद्वाद्विड्जनोपिकः ॥४४॥

[महामति कुमारिल]

मीमांसा दर्शन के पारगामी महामति कुमारिलभट्ट ने भी पदार्थों के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप को मुक्त कंठ से

---

(१) *पयोव्रतो न दध्यात्ति न पयोत्ति दधि व्रतः।*
अगोरस व्रतोनोभे, तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥

[शा० वा० स० स्त० ७ श्लो० ३]

स्वीकार किया है ? पदार्थ को उत्पत्ति विनाश और स्थिति शील सिद्ध करने में भट्ट महोदय ने भी ऊपर दी गई युक्ति का ही अवलम्बन किया है। तथा हि—

"वर्द्धमानकभंगेच, रुचकः क्रियते यदा।"
"तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः" ॥२१॥
"हेमार्थिनस्तुमाध्यस्थ्यं, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्[1] ॥"
"नोत्पाद् स्थिति भंगाना मभावेस्यान्मतित्रयम् ॥२२॥
"न नाशेन विनाशोको, नोत्पादेन विनासुखम्।"
"स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेनसामान्यनित्यता।२३।६

इन श्लोकों का संक्षेप से अर्थ यह है कि—सुवर्ण के प्याले को तोड़ कर जब उसका रुचक बनाया जावे तब जिसको प्याले की जरूरत थी उसको शोक और जिसे रुचक की आवश्यकताथी उसे हर्ष तथा जिसे सुवर्ण मात्र ही चाहिये था उसे हर्ष शोक कुछ भी नहीं होता किन्तु वह मध्यस्थ ही रहता है। इससे प्रतीत हुआ कि वस्तु उत्पत्ति स्थिति और विनाश रूप है। क्योंकि उत्पत्ति स्थिति और विनाश ये तीनों धर्म यदि वस्तु के न माने जांय तो शोक प्रमोद और मध्यस्थ्य इनकी कभी उपपत्ति नहीं हो सकती।

---

१ टीका—त्रयात्मकम्—उत्पत्ति स्थिति विनाश धर्मात्मकमित्यर्थः।
* मीमांसा श्लोक वार्तिक पृ० ६१६।

कुमारिल भट्ट के इस कथन से भी पदार्थ का व्यापक स्वरूप उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक ही सिद्ध होता है। हमारे ख्याल में अब यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि वस्तु, उत्पत्ति और विनाश युक्त होने पर भी स्थिति शील, एवं स्थिति युक्त होने पर भी उत्पाद विनाश शील है। वस्तु में उत्पाद विनाश और ध्रुवता ये तीनों ही धर्म अबाधित रूप से अपनी सत्ता का अनुभव करा रहे हैं इनमें से किसी एक का भी सर्वथा अपलाप नहीं हो सकता। यदि उत्पत्ति न मानी जाय तो विनाश का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता उत्पत्ति के मानने पर विनाश का स्वीकार करना ही पड़ेगा तथा उत्पाद विनाश के स्वीकार करने पर तदाधारभूत ध्रौव्य के माने बिना कोई गति ही नहीं। इसलिये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों ही धर्म वस्तु में स्वभाव सिद्ध हैं यह सुचारु रूप से प्रमाणित हो गया। बस यही पदार्थों का व्यापक स्वरूप है। यह सिद्धान्त केवल जैन दर्शन का ही नहीं किन्तु अन्यान्य दार्शनिक विद्वानों को भी यह अभिमत है इसका जिक्र भी ऊपर आ चुका।

[द्रव्य पर्याय अथवा नित्यानित्यत्व]

वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहने से उसके दो स्वरूप प्रमाणित होते हैं। एक विनाशी और दूसरा अविनाशी। उत्पाद व्यय उसका विनाशी स्वरूप और ध्रौव्य अविनाशी स्वरूप है। जैन परिभाषा में पदार्थ के विनाशी स्वरूप को पर्याय और अविनाशी स्वरूप को द्रव्य के नाम से अभिहित किया है। यही

तत्त्व दर्शनान्तरों में धर्म धर्मी, आकृति और द्रव्य आदि के नाम से निर्दिष्ट हुआ है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि जैन दर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्ततया नित्य अथच अनित्य नहीं मानता किन्तु उसके वहां सापेक्षतया नित्यानित्य उभय रूप ही पदार्थ स्वीकार किया गया है। वस्तु का जो अविनाशी स्वरूप है उसकी अपेक्षा से वस्तु नित्य और विनाशी स्वरूप की अपेक्षा से वह अनित्य अतः नित्या-नित्य उभय रूप है। इस बात को निम्नलिखित एक उदाहरण द्वारा पाठक समझने का थोड़ा सा कष्ट उठावें।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि कुम्हार एक मृत्पिण्ड से घट शराव (प्याला) आदि कई क़िस्म के बर्तन तैयार करता है। उसने जिस मृत्पिण्ड से एक सुन्दराकृति का घड़ा तैयार किया है उसी मृत्पिण्ड से वह सिकोरा, प्याला आदि और भी अनेक किस्म के भाजन बनाता या बना सकता है। कल्पना करो कि वह कुम्हार यदि उस घड़े को तोड़ कर उसका सिकोरा या प्याला आदि कोई और बर्तन बना कर हमको घड़े के नाम से दिखावे या देवे तो हम उसको घड़ा कहने अथवा घट साध्य प्रयोजन— जलाहरणादि—के निमित्त ग्रहण करने को कदापि तैयार न होंगे। अब देखना यह है कि ऐसा भेद क्यों? जबकि एक ही मृत्तिका रूप द्रव्य, घड़ा सिकोरा और प्याला आदि संज्ञाओं से व्यवहृत होता है, तथाच जिस मृत्तिका से घट बनाया गया वही मृत्तिका जब कि सिकोरे और प्याले में मौजूद है तो इनका घट के नाम से विधान क्यों न किया जाय। इसका

उत्तर यही होगा कि प्रथम निर्माण किये गये घट की शकल से इनका आकार सर्वथा जुदा है और जो काम घट से लिया जाता है वह इनसे नहीं हो सकता इसलिये इनका घट के नाम से निर्देश और घट के स्थान में ग्रहण नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपना भिन्न २ स्वरूप रखने वाले ये घट शराव आदि मृत्तिका के एक नियत और विभिन्न आकार विशेष हैं। परन्तु यहां पर इतना स्मरण अवश्य रखना चाहिये कि ये सब आकार मृत्तिका से सर्वथा पृथक् भी नहीं और अपृथक् भी नहीं। क्योंकि भिन्न २ आकारों में परिवर्तित की हुई मृत्तिका ही, घड़ा सिकोरा प्याला और रकेबी आदि संज्ञाओं से व्यवहृत हो रही है। ऐसी दशा में ये आकार मृत्तिका से सर्वथा भिन्न नहीं कहे जा सकते। यदि मृत्तिका रूप द्रव्य से इनको सर्वथा पृथक् ही माना जाय तो मृत्तिका के साथ इनका जो कार्य कारण भाव सम्बन्ध है उसकी उपपत्ति कभी नहीं हो सकती अतः ये आकार विशेष मृत्तिका से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। तथा सर्वथा अभिन्न भी नहीं, सर्वथा अभिन्न मानने पर घट और शराव आदि में कोई भेद न रहेगा और यह घट है यह शराव है इस प्रकार के सर्वजनीन भेद व्यवहार का उच्छेद ही हो जावेगा तथा इनका जो कार्यकारण भाव देखा जाता है वह भी लुप्त हो जावेगा इसलिये ये सर्वथा अभिन्न भी नहीं किन्तु कथंचित्— भिन्नाभिन्न उभय रूप हैं। इस सिद्धान्त का अधिक निरूपण आगे चलकर पदार्थों के भेदाभेद निरूपण के प्रकरण में किया जावेगा। तब इस सारी विवेचना से यह प्रमाणित हुआ कि, मृत्तिका और घड़ा—(लम्बी सी गर्दन बीच से पोला गोल मोलसी

आकृति)—ये दोनों ही घट रूप वस्तु के स्वरूप हैं। अब यहां पर विचार यह करना है कि घट के दो स्वरूपों में से उसका विनाशी स्वरूप कौन ? और अविनाशी स्वरूप कौन ? यह तो प्रत्यक्षतया दृष्टिगोचर हो रहा है कि घट रूप वस्तु का जो, लम्बी सी गर्दन बीच से पोला गोलमोल सा जो आकार विशेष देखने में आता है वह तो अवश्य नाशवान है; वह टूट जाता है, उसका नियत आकार बदल जाता है और उसका रूप नष्ट हो जाता। परन्तु उसका दूसरा स्वरूप जो मृत्तिका है वह ध्रुव, नित्य एवं अविनाशी है। उसका मूल रूप से कभी विध्वंस नहीं होता। अनेकानेक आकार विशेषों को धारण करता हुआ भी वह मृत्तिका रूप द्रव्य-ज्योंका त्यों ही बना रहता है। लाखों परिवर्त्तन होने पर भी वह क़ायम का क़ायम ही रहता है। इस सर्वानुभव सिद्ध उदाहरण से यह सिद्ध हुआ कि घट रूप पदार्थ के दो स्वरूप हैं एक ध्रुव-अविनाशी, और दूसरा विनाशी इन दो में से किसी एक का भी तिरस्कार नहीं हो सकता। अतः घट पदार्थ को अपने ध्रुव-अविनाशी स्वरूप की अपेक्षा नित्य और विनाशी स्वरूप की अपेक्षा से अनित्य कहेंगे इसी आशय से जैन ग्रन्थों में स्थान २ पर लिखा है—"**द्रव्यात्मनास्थिति रेव सर्वस्य वस्तुनः पर्यायात्मना सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते वा इति**[१]"

१—स्याद्वाद मंजरी पृष्ठ १९८।

इस प्रकार सापेक्षदृष्टि से वस्तु में नित्यानित्यत्व आदि विरुद्ध धर्मों का अविरोध व्यवस्थापन करने वाले सिद्धान्त को ही जैन दर्शन में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद अथवा अपेक्षावाद के नाम से उल्लेख किया है। पदार्थ के ध्रौव्य स्वरूप को द्रव्य और विनाशी स्वरूप को पर्याय नाम देकर वस्तु को द्रव्य पर्यायात्मक भी इसी प्रकार (सापेक्ष दृष्टि से) माना है। इसलिये जैन दर्शन का वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक अथवा नित्यानित्य स्वीकार करना किसी प्रकार से भी युक्ति विधुर नहीं कहा जा सकता।

[वस्तु स्वरूप अनेकान्त है]

यह बात ऊपर कही जा चुकी है कि जैन दर्शन को कोई भी वस्तु एकान्त नित्य अथवा अनित्य रूप से अभिमत नहीं है। जिस प्रकार पदार्थ में नित्यत्व का भान होता है उसी प्रकार उसमें अनित्यता के दर्शन भी हम करते हैं। जब कि हमारा अनुभव ही स्पष्ट रूप से पदार्थ में नित्यानित्यत्व की सत्ता को बतला रहा है तो एक को न मानना और दूसरे को मानना यह कहाँ का न्याय है। पदार्थ को केवल एकान्त रूप से स्वीकार करने पर उसके यथार्थ स्वरूप का पूर्णतया भान नहीं हो सकता क्योंकि एकान्त दृष्टि अपूर्ण है। यदि पदार्थ को एकान्त नित्य ही मानें तो उसमें किसी तरह की परिणति नहीं होनी चाहिये परन्तु होती है उदाहरणार्थ सुवर्ण अथवा मृत्तिका को ले लीजिये? कटक कुंडल और घट शराब आदि सुवर्ण और मृत्तिका के ही

परिणाम अथवा पर्याय विशेष हैं इन प्रत्यक्ष सिद्ध पर्यायों का अपलाप कदापि नहीं हो सकता एवं सर्वथा अनित्य भी वस्तु को नहीं कह सकते क्योंकि कटक कुंडलादि में सुवर्ण और घट शराब आदि में मृत्तिका रूप द्रव्य का अनुगत रूप से प्रत्यक्ष भान हो रहा है। अतः वस्तु एकान्ततया नित्य अथवा अनित्य नहीं किंतु कथंचित् नित्यानित्य उभय स्वरूप है। द्रव्य की अपेक्षा वह नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस बात का उल्लेख जैन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप से किया है। * इस-लिये पर्याय की अपेक्षा से तो वस्तु प्रतिक्षण उत्पत्ति और

---

*-(१) रयणप्पहा सिय सासया सिय असासया।
दव्वट्ठयाए सिय सासया पज्जवट्ठयाए सिय असासया॥

छाया—रत्नप्रभा स्याच्छाश्वती स्यादशाश्वती।
द्रव्यार्थतया स्याच्छाश्वती पर्यायार्थतया स्यादशाश्वती॥

(२) उप्पज्जंति चयंति अ भावा निअमेण पज्जवनयस्स।
दव्वट्ठियस्ससव्वं सया अणुप्पन्न मविणट्ठं॥

छाया—उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च भावा नियमेन पर्यवनयस्य।
द्रव्यास्तिकस्यसर्वं सदानुत्पन्न मविनष्ठम्॥

(सम्मतितर्क गाथा ११)

(३) द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुन: पर्यायात्मनातुसर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते चास्खलित पर्यायानुभव सद्भावात्।

(हरिभद्र सूरिकृतषड्दर्शन समुच्चय की टीका पृ० ५७)

विनाश की परंपरा को लिये हुये है तथा द्रव्य की अपेक्षा वह सदा अविनाशी एवं ध्रुव है यह सुनिश्चित है।

[द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद]

यद्यपि द्रव्य नित्य और पर्याय विनाशी हैं इसी प्रकार द्रव्य धर्मी और पर्याय उसके धर्म, द्रव्य कारण पर्याय कार्य, द्रव्यगुणी पर्यायगुण, द्रव्य सामान्य पर्याय विशेष एवं द्रव्य एक और पर्याय अनेक हैं तथापि द्रव्य और पर्याय आपस में एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं हैं। द्रव्य को छोड़ कर पर्याय और पर्यायों को छोड़कर द्रव्य कहीं नहीं रहता अथवा यूं कहिये कि पर्याय; द्रव्य से अलहदा नहीं हैं और द्रव्य पर्यायों से पृथक् नहीं हो सकता। अतः ये दोनों ही सापेक्षतया भिन्न अथच अभिन्न हैं। महामति सिद्धसेन दिवाकर ने इसी अभिप्राय से सम्मति तर्क में लिखा है—

"दव्वं पज्जव विउअं दव्वविउत्ता पज्जवोणत्थि।
"उप्पायट्ठिइ भंगा हंदि दविय लक्खणं एयं[1] ॥१२॥

---

(१)—छाया—द्रव्यं पर्याय वियुतं द्रव्यवियुक्ताश्च पर्यवानसन्ति।
उत्पादस्थिति भंगा हंत द्रव्यलक्षण मेतत ॥१२॥

स्याद्वाद मंजरी आदि अनेक जैन ग्रंथों में इसी आशय का एक और संस्कृत श्लोक उद्धृत किया हुआ देखा जाता है वह इस प्रकार है।

अर्थात् पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्यवियुक्त पर्याय नहीं होते। किंतु उत्पाद विनाश और स्थिति यही द्रव्य का लक्षण है। आचार्य हरिभद्र ने भी प्रकारान्तर से इसी बात का शास्त्रवार्ता समुच्चय में उल्लेख किया है।

मृद्द्रव्यं यन्न पिंडादि धर्मान्तर विवर्जितम्।
तद्वा तेन विनिर्मुक्तं केवलं गम्यते क्वचित्॥

(स्त० ७ श्लो० ३६)

तात्पर्य कि, पिंड कपाल शराब और घटादि रूप अनेक विध धर्मों के अतिरिक्त मृत्तिका रूप द्रव्य और मृत्तिका के अतिरिक्त उक्त नाना विध धर्मों की स्वतंत्र (विभिन्न) रूप से कहीं पर भी उपलब्धि नहीं होती।

इसलिये पदार्थ न केवल द्रव्य रूप और न सर्वथा पर्याय रूप ही है किंतु द्रव्य पर्याय उभय रूप है उभय रूप से ही उसकी उपलब्धि होती है एवं द्रव्य और पर्याय धर्मी और धर्म कारण तथा कार्य, जाति और व्यक्ति आदि, एक दूसरे से न तो सर्वथा भिन्न हैं और न अभिन्न किंतु भिन्नाभिन्न उभय रूप हैं। जिस प्रकार इनका भेद सिद्ध है उसी प्रकार अभेद भी प्रामाणिक है। तथा जिस प्रकार ये अभिन्न प्रतीत होते हैं उसी प्रकार

"द्रव्यं पर्याय वियुतं पर्याया द्रव्य वर्जिताः।
"क्व कदा केन किं रूपा दृष्टा मानेन केन वा॥१॥

इनमें भिन्नता भी देखी जाती है। दो में से किसी एक का भी सर्वथा त्याग अथवा स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः दोनों की सत्ता को सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करना ही न्याय संगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप प्रतीत होता है।

जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का यही तात्पर्य है। इस अनेकान्तवाद का अन्यान्य दार्शनिक विद्वानों ने भी कहाँ और किस रूप में आदर किया है इसका जिकर हम आगे चलकर करेंगे। कुछ पहले किया भी है+ इस सारी विवेचना का सारांश यह है कि जैन दर्शन को वस्तु एकान्त रूप से अभिमत नहीं उसकी दृष्टि में वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है[1]। तथा एकान्त दृष्टि पदार्थ के एक देश व्यापिनी और अनेकान्त दृष्टि पदार्थ को सम्पूर्ण रूप से पर्यालोचित करती है इसलिये जो पदार्थ जिस रूप में भासमान होता हो उसको उसी रूप में

+ देखो पृष्ठ ८। १०। १२। १६

१—(क) *अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्व संविदाम्।*
एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ॥२६॥
(न्यायावतारे वादि सिद्धसेन दिवाकरः)

किंचानेकान्ताभ्युपगमेसत्येषगुणः—परस्परविभक्तेषु संयोगि संयोग समवायि समवाय गुणि गुणावयवावयवि व्यक्ति सामान्यादिषु संयोग समवाय गुणयवयवि सामान्यादीनां संयोगि समवायि गुणावयव विशेषादिषु वर्तन चिन्तायां यद्दूषण जाल मुपनिपतत्ति तदपि परिहृतं भवति। एकान्त भेदएव तदुपपरो: । अनेकान्तेतूत्थानाभावात् ॥
[न्यायावतार टीकायां सिद्धर्षिः]

माना अथवा स्वीकार किया जाय तभी वह न्याय संगत कह-लायेगा अन्यथा जिस रूप में वस्तु का भान हो रहा है उस रूप में यदि उसका निर्देश न किया जाय तो उसके वास्तविक स्वरूप का यथार्थतया ज्ञान नहीं हो सकता और न वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहला सकता है।

अतः वस्तु का व्यापक स्वरूप उत्पादव्यय ध्रौव्य अथवा द्रव्य पर्यात्मक है तथा द्रव्य और पयर्याय एक दूसरे से न सर्वथा भिन्न और न अभिन्न किन्तु कथंचित् भिन्ना भिन्न हैं। इसी प्रकार

(ग) तथाहि सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यतेवा परिस्फुटमन्वय दर्शनात्। ....ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः। पर्यायात्मना तु सर्ववस्तूत्पद्यते विपद्यते च अस्खलित पर्यायानुभव सद् भावात्। [इति रत्नाकरावत्तारिकायां रत्नप्रभाचार्यः पृ० ८४ परि० ५]

(घ) *येनोत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं यत्सत्त दिष्यते।*
अनन्त धर्मात्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ॥५७॥
[षड्दर्शन समुच्चये हरिभद्रसूरिः]

वस्तु तत्वं चोत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मकम्। इति व्याख्याकारोमणिभद्रः पृ० ५

(ङ) *तस्य विषयः सामान्य विशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु।*
[इति प्रमाणनयतत्त्वालोका लंकारे वादिदेवसूरिः परि० ५]

(च) *अर्थाः सर्वेऽपिसामान्य विशेषोभयात्मकाः।*
सामान्यं तत्र जात्यादि विंशेषाश्च विभेदकाः ॥२॥
[नयकर्णिकायां विनय विजयोपाध्यायः]

वस्तु का स्वरूप केवल एक ही नहीं किन्तु अनेक भी है, तथा केवल द्रव्य अथवा पर्याय ही नहीं किन्तु द्रव्य पर्याय उभय रूप है और केवल धर्म या धर्मी रूप ही नहीं किंतु उभय रूप है एवं मात्र सामान्य अथवा विशेष रूप ही नहीं किंतु सामान्य विशेष उभय रूप ही वस्तु का स्वरूप जैन दर्शन को अभिमत है। जैन दर्शन का अनेकान्तवाद इसी प्रकार का है पाठकगण जैन दर्शन के इस उक्त सिद्धान्त की तुलना अन्यान्य दार्शनिक विद्वानों के विचारों से करें और हम भी अपने पर्यालोचित विचारों को इसी उद्देश्य से सभ्य जनता के समक्ष रखने का यथा शक्ति प्रयत्न करते हैं।

[दर्शन शास्त्रों में अनेकान्तवाद दर्शन]

जैन दर्शन अनेकान्तवाद प्रधान दर्शन है यह बात ऊपर कही जा चुकी है तथा यह भी पीछे बतलाया है कि जैन दर्शन के अनेकान्तवाद को जैनेतर दार्शनिक विद्वानों ने भी तात्विक विचार में कई स्थलों पर उसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है इस बात के समर्थनार्थ हम यहाँ पर कतिपय दार्शनिक विद्वानों के लेखों को उद्धृत करते हैं।

पातंजल योग भाष्य

ईश्वरवादी[१] सांख्यदर्शन के आदरणीय ग्रन्थ पातञ्जलयोग भाष्य में ऋषि प्रवर व्यास और उस पर "तत्व विशारदी" नाम की विख्यात टीका के कर्त्ता निखिल शास्त्र निष्णात आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कई स्थलों पर तत्वविचारणा में अनेकान्तवाद का अनुसरण तथा प्रतिपादन किया है, उदाहरणार्थ उनके निम्न लिखित स्थलों को देखिये ?

प्राकृत जगत् की अनेकान्ता

प्राकृत जगत् की नित्यानित्यता पर विचार करते हुए भाष्य-कार लिखते हैं—

---

(१) सांख्यदर्शन दो प्रकार का है एक निरीश्वरवादी दूसरा ईश्वर का मानने वाला। "द्विविधं सांख्य दर्शनम् **निरीश्वरं सेश्वरंच** *निरीश्वरवादिनस्तवदाहुः प्रकृति रचेतना त्रिगुणात्मिका प्रधान शब्दाभिधेया महदादि विशेष पर्यन्तेन प्रपंच रूपेण चेतनाना मुपभोगाय परिणमतीति। सेश्वर वादिनो प्येव माहुः। इयांस्तु विशेषः पुरुषशब्दाभिधेयमीश्वरं क्लेशकर्मविपाकाशयैर परामृष्ट माश्रित्य प्रकृतिर्जगत् सृजति।"*

[शास्त्रदीपिका पृष्ठ ४४१]

[अपर[1] आह धर्मानभ्यधिकोधर्मी पूर्व तत्वानति क्रमात्। पूर्वापरावस्थाभेद मनुपतितः कौटस्थ्येन विपरिवर्त्तेत यद्यन्वयी स्यादिति। अय-मदोषः कस्मात् एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति कस्मात् नित्यत्व प्रतिषेदात्। अपेतमप्यस्ति विनाश प्रतिषेधात्] विभूतिपाद सू० १३

भावार्थ—बौद्ध दर्शन एकान्तवादी दर्शन है वह धर्म और धर्मी को सर्वथा अभिन्न अथच एकही मानता है।

---

(१)—* एकान्त वादिनं बौद्ध मुत्थापयति अपर आहइति। धर्माएवहि रुचकादयस्तथोत्पन्नाः परमार्थ सन्तोनपुनः सुवर्णं नाम किंचिदेकमने केष्वनुगतं द्रव्यमिति। यदि पुनर्वर्त्तमानेष्वपि धर्मेषु द्रव्य मनुगतं भवेत्ततो न चिति शक्ति वत् परिणामेतापितु कौटस्थ्येनैव विपरिवर्त्तेत। परिणामात्मक रूपं परिहाय रूपान्तरेण परिवर्त्तनं परिवृत्तिः यथा चितिशक्ति रन्यथान्यथा भावं भजमानेष्वपिगुणेषु स्वरूपादप्रच्युता कूटस्थ नित्या एवं सुवर्णाद्य-पिस्यात्। नचेष्यते तस्मान्न द्रव्य मतिरिक्तं धर्मेभ्यइति। परिहरति। अयमदोषइति। कस्मादेकान्तानभ्युपगमात्। यदि चितिशक्ति रिव द्रव्यस्यै कान्तिकीं नित्यतामभ्युपगच्छेम ततएव मुपालभ्येमहि नत्वैकान्तिकीं नित्यता मातिष्ठामहे.......................................तथाच नात्यन्त नित्यो येन चितिशक्तिवद् कूटस्थ नित्यःस्यात् किन्तु कथंचि-न्नित्यः। इति वाचस्पति मिश्रः। वि भू० पा० सू० १३ पृष्ट २०५

---

* धर्म धर्मिणोरत्ययन्त भेद वादिन मित्यर्थः।

[टिप्पणी कारो बालराम उदासीनः]

अथवा यूं कहना चाहिये कि वह धर्मों के अतिरिक्त धर्मी की सत्ता का ही स्वीकार नहीं करता। उसका कथन है कि हार मुकुट और कटक कुंडलादि जितने भी सुवर्णरूप द्रव्य के धर्म कहे जाते हैं वे ही सत्य हैं उनके अतिरिक्ति अनुगत रूप से प्रतीत होने वाला सुवर्णरूप धर्मी कोई भिन्न वस्तु नहीं। इस प्रकार धर्मों के अतिरिक्त धर्मी की सत्ता को मानने वाले सांख्य मतावलम्बी के समक्ष एक विलक्षण युक्ति से ही धर्मी की सत्ता का बौद्ध खण्डन करता है, वह कहता है कि यदि कटक कुण्डल और हार मुकुटादि धर्मों के अतिरिक्त सुवर्ण नाम का कोई धर्मी द्रव्य हो तो उसकी उक्त हार कुण्डलादि धर्मों में अनुगत रूप से प्रतीति नहीं होनी चाहिये[1]। एवं उत्पाद व्ययशील हार कुण्डलादि धर्मों की अतीत और अनागत अवस्था काल में भी यदि सुवर्णरूप द्रव्य की अनुगततया सत्ता स्वीकार की जाय तो वह चिति शक्ति की तरह कूटस्थ सिद्ध होगा, ऐसा होने पर उसमें परिणति नहीं हो सकती। जिस प्रकार प्राकृत गुणों के अन्यथा, अन्यथा रूप में परिणत होने पर भी चिति शक्ति अपने स्वाभाविक रूप से च्युत नहीं होती किन्तु निजी कौटस्थ्य नित्य स्वरूप में ही सदा स्थित रहती है उसी प्रकार सुवर्ण-द्रव्य को भी कौटस्थ्य प्राप्त होगा अर्थात् वह भी चिति शक्ति की तरह अपरिणामी ही सिद्ध होगा। परन्तु यह आपको अभीष्ट नहीं इसलिये

---

(१) जिस युक्ति के द्वारा धर्मी की सत्ता प्रमाणित होती हो उसी युक्ति के द्वारा धर्मी का खण्डन करना यह बौद्ध की अपूर्व चातुरी का एक अपूर्व नमूना है!

सुवर्णरूप धर्मी द्रव्य की, कटक कुण्डलादि धर्मों से अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। एकान्तवादी बौद्ध की इस विलक्षण शंका का समुचित उत्तर देने के निमित्त अनेकान्तवाद का अनुसरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं **"अयमदोषः कस्मात् एकान्तानभ्युपगमात्"** अर्थात् हमारे लिये उक्त दोष को अवकाश नहीं है। यदि हम चिति शक्ति की तरह द्रव्य में एकान्त नित्यता को स्वीकार करें, तभी हम पर उक्त आक्षेप हो सकता है। परन्तु हमारा मन्तव्य ऐसा नहीं है। हम द्रव्य को एकान्ततया नित्य अथवा अनित्य नहीं मानते किन्तु वह कथंचित् किसी अपेक्षा से नित्य अतएव अनित्य भी है। तथाहि–यह संसार–तदन्तर्गत घट पटादि पदार्थ जात–परिदृश्यमान रूप से विनष्ट होता है क्योंकि वह नित्य नहीं और विनष्ट हुआ भी रूपान्तर से स्थित रहता है। क्योंकि इसका आत्यन्तिक विनाश नहीं होता। उक्त दोनों बातों की उपपत्ति टीकाकार ने इस प्रकार से की है[1]। मुद्गरादि के

---

[1]—नित्यत्व प्रतिषेधात् प्रमाणेन। यदि घटो व्यक्तेर्नाऽपेयात् कपाल शर्कराचूर्णादिष्ववस्थास्वपि व्यक्तो घट इति पूर्व वदुपलब्ध्यर्थाक्रिये कुर्यात् तस्मादनित्यं त्रैलोक्यम्। अस्तु तर्हि नित्यमेवोपलब्ध्यर्थक्रियारहितत्वेन गगनारविन्दवदति तुच्छत्वादित्यत आह—"अपेतमप्यस्ति" इति। नात्यन्त तुच्छता येनै कान्ततोऽनित्यंस्यादित्यर्थः कस्मात्—विनाश प्रतिषेधात् प्रमाणेन। तथाहि यत् तुच्छं न तत्कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थं क्रिये करोति यथा गगनार विन्दम्। करोति चैतत् त्रैलोक्यम् कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थे क्रियेX इति। (वाचस्पति मिश्रः)

X नात्यन्त तुच्छ मिति शेषः (टिप्पणी)

प्रहार से टूट जाने पर यदि घट को विनष्ट हुआ न मानें तो उसके खण्डों में भी पूर्ववत् घट और घटसाध्य क्रिया की उपलब्धि होनी चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं। घट के टूट जाने पर जो खण्ड—टुकड़े—देखने में आते हैं उनमें घट और तत्साध्य क्रिया की उपलब्धि नहीं होती इसलिये घटादि पदार्थ अनित्य कहे जाते हैं। तथा दण्डादि के प्रहार से घट टूट गया, इससे यह न समझना चाहिये कि उसका सर्वथा विनाश हो गया। नहीं, वह रूपान्तर से अवश्य स्थित है यदि उसका अत्यन्त विनाश ही मान लिया जाय तब तो वह अति तुच्छ ही सिद्ध होगा परन्तु जो पदार्थ अति तुच्छ है उसकी उपलब्धि कभी नहीं होती, आकाश कुसुम, वन्ध्या-पुत्र और शशशृंग आदि को आज तक किसी ने कभी नहीं देखा, ये सब अत्यन्त तुच्छ हैं परन्तु घटादि पदार्थों और तत्साध्यक्रिया आदि का हम प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं अतः ये—घटादि पदार्थ—तुच्छ नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि घटादि पदार्थों का आत्यन्तिक विनाश भी नहीं होता। तब यह प्रमाणित हुआ कि घटादि पदार्थ न तो सर्वथा नित्य हैं और ना ही सर्वथा अनित्य किन्तु कथंचित् नित्यानित्य हैं तात्पर्य कि, घटादि पदार्थों में जिस प्रकार से अनित्यता देखी जाती है उसी प्रकार उनमें नित्यता भी प्रमाणित होती है। अतः उनको सर्वथा नित्य अथवा अनित्य न मानकर कथंचित् किसी रूप अथवा अपेक्षा से नित्यानित्य मानना ही युक्ति युक्त और न्यायोचित प्रतीत होता है। इस प्रकार प्राकृत जगत् की अनेकान्तता को योग-भाष्यकार ने बड़े सरल और स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया है।

[धर्म और धर्मी का भेदाभेद]

ऊपर यह बतलाया जाचुका है कि जैन दर्शन धर्म और धर्मी को अत्यन्त भिन्न अथच अभिन्न नहीं मानता किन्तु सापेक्षतया इनका भेदाभेद ही उसे अभिमत[१] है। परन्तु योग-भाष्य और उसकी तत्त्वविशारदी टीका में भी उक्त सिद्धान्त का निम्नलिखित वाक्यों में सुचारु रूप से प्रतिपादन किया है। योग भाष्य में धर्म और धर्मी के विषय में विचार करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

न[२] धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वानः ते लक्षिता अलक्षिताश्च तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैक

---

(१) *न धर्म धर्मित्व मतीवभेदे वृत्यास्ति चेन्न त्रृतयं च कास्ति।*
इहेद मित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौण भेदोपि च लोक बाधः॥७
(इति अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिकायाम् हेमचन्द्राचार्यः)

(२) अयंच लक्षणपरिणामो न धर्मिणो येनाननुगतत्वप्रसंगः किन्तु धर्मस्येत्याह न इति। यतो धर्मा घटादयएव त्र्यध्वानः अतीतादिकालयोगनो, न धर्मी मृदादिः अतस्ते घटादयो धर्माएव तां तां नव पुरातनाद्यवस्थां प्राप्नुवंतोऽवस्थान्तरत्त एव भिन्नत्वेन निर्दिश्यन्ते न धर्मिणः सकाशात्। द्रव्यस्य धर्मिणः सर्वावस्थास्वनुगतत्वादिति भावः (टिप्पणीकारो बालरामः)

स्थाने । यथा चैकत्वेपि स्त्री माताचोच्यते दुहिता च स्वसाचेति ×

इस भाष्य के अभिप्राय को समझने के लिये प्रथम इसके पूर्व जो कुछ लिखा है उस पर जरा ध्यान कर लेना चाहिये। यह भाष्य—"**एतेनभूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थाः परिणामा व्याख्याताः**" इस सूत्र पर लिखा है इसके पूर्व भाष्य में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति। एवं धर्म लक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुण वृत्त मवतिष्ठते.........एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्म धर्मिभेदात्त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः। परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः धर्मिस्वरूपमात्रोहिधर्मो धर्मिविक्रियवैषा धर्मद्वारा प्रपंच्यते इति तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागत वर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति नद्रव्यान्यथात्वं। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्वाऽन्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम्"

[×—विभूतिपाद सूत्र १३ का भाष्य पृ० २०८]

अर्थात्—धर्मि में धर्म परिणाम, धर्मों में लक्षण परिणाम और लक्षणों में अवस्था परिणाम, इस प्रकार धर्म लक्षण और अवस्था परिणाम से शून्य गुण समुदाय कभी नहीं रहता। यह तीन[1] प्रकार का परिणाम, धर्म धर्मी का भेद मान कर ही कहा गया है। वास्तव में–धर्म धर्मी के अभेद को आश्रयण करने पर[2]—तो केवल एक ही परिणाम× है। अर्थात् उक्त, धर्म लक्षण और अवस्था रूप तीनों परिणाम केवल धर्मी के

---

(१) एषत्रिविधः परिणामो धर्म धर्मिभेदात्—धर्म धर्मिणो भेद * मालक्ष्य तत्र भूतानां पृथिव्यादीनांधर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणामः। धर्माणां चा तीतानागत वर्त्तमानरूपता लक्षण परिणामः। घटादीनामपि नव पुरातनता अवस्था परिणामः। इति वाचस्पति मिश्रः।

इसका भावार्थ—पृथिवी आदि धर्मियों का गो आदि रूप में या घट आदि रूप में परिणत होना धर्म परिणाम कहा जाता है। और गो घटादि धर्मों का भूत भविष्यत और वर्त्तमान रूप से स्थित होना लक्षण परिणाम है। तथा वर्तमान आदि काल से युक्त गौ आदि का बाल, युवा और वृद्ध तथा घटादि का नया और पुराना आदि होना अवस्था परिणाम है। इत्यादि यह तीन प्रकार का परिणाम धर्म धर्मी के भेद को आश्रयण करके कहा है।

(२) अभेद माश्रित्याह—परमार्थतस्तु इति ।……पारमार्थिकत्व मस्यज्ञाप्यते नत्वन्यस्यपरिणाम मस्य निषिद्धयते। वाच० मि० ॥

× ननुपरिणामानां त्रित्वं निषिध्यतेऽपितुत्रयोपि परिणामाधर्मिणएवेत्य भेद माश्रित्य ज्ञाप्यते इत्यर्थः (इति टिप्पणीकारो बालरामः)

*—भेद मालक्ष्य—भेदमाश्रित्योक्त इत्यर्थ [टिप्पणी]

ही हैं। धर्म, धर्मी का स्वरूप मात्र ही है। धर्म लक्षण अवस्था रूप धर्मों के द्वारा सर्वत्र धर्मी की ही विकृति काबोध कराया जाता है। तथा धर्मी में रहे हुए धर्म का ही अतीतानगत और वर्तमान काल में आकार भेद से भेद होता है। द्रव्य रूप धर्मी का नहीं। जैसे रुचक स्वस्तिकादि नाना विध आकारों के परिवर्तन होने पर भी सुवर्ण असुवर्ण नहीं हो जाता किंतु सुवर्ण ही बना रहता है इसी प्रकार धर्मों में फेरफार होने पर भी धर्मी अनुगत रूप से ज्यों का त्यों ही बना रहता है इत्यादि। इस कथन से धर्म धर्मी की अनेकान्तता प्रमाणित हुई। परन्तु अनेकान्तता का अवलम्बन करने पर धर्म लक्षण अवस्थाओं के भेद से धर्मी का भी भेद होजायगा ऐसा होने पर उसकी अनुगत रूप से जो प्रतीति होती है वह* न होगी इसलिये भाष्यकार कहते हैं **"न धर्मी त्र्यध्वा इत्यादि"** अर्थात् उक्त लक्षण परिणाम धर्मों का होता है धर्मी का नहीं। तात्पर्य कि घटादि रूप धर्म ही, अतीतानागतादि काल रूप लक्षण परिणाम को धारण करते हैं मृत्तिका रूप धर्मी नहीं। इसलिये वे घटादि रूप धर्म ही नव पुराण आदि अवस्था को प्राप्त होते हुये अवस्थान्तर से ही भिन्न २ देखे जाते हैं न कि द्रव्यान्तर से। द्रव्य रूप धर्मी का तो सभी अवस्थाओं में अनुगत रूप से ही भान होता है। जैसे एक

---

* ननु सत्यप्यनेकान्ताभ्युपगमे भेदोस्तीति धर्मलक्षणावस्थान्यत्वेतदभिन्नस्य धर्मिणोप्यन्यत्व प्रसंगः। सचनेष्यते तदनुगमानुभव विरोधात्-इत्यत आह न धर्मीत्र्यध्वा इति। (वाचस्पतिमिश्रः)

ही रेखा, शत के स्थान में शत, दश के स्थान में दश और एक के स्थान में एक रूप से निर्दिष्ट होती है, और जैसे एक ही स्त्री भिन्न २ पुरुषों की अपेक्षा से माता, पुत्री और भगिनी कही जाती है। इसी प्रकार एक ही¹ धर्मी रूप वस्तु का धर्म लक्षण और अवस्था भेद से विभिन्नतया निर्देश होता है वह भी अवस्थान्तर से न कि द्रव्यान्तर से। तात्पर्य कि धर्म धर्मी का भेदाभेद भाष्यकार को अभिमत है इसमें संदेह नहीं।

आचार्य वाचस्पति मिश्र तो, इसी स्थल में धर्म धर्मी के भेदाभेद को बिलकुल ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं। तथाहि **"अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयति। नह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां धर्मिणो धर्मीरूपवद् धर्मादित्वं, नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्च वद् धर्मादित्वंसचानुभवोऽनैकान्तिकत्व मवस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकेष्वपि धर्मिण मेकमनुगमयन् धर्मांश्च परस्परतोव्यावर्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयत इति। तदनुसारिणो×**

---

(१) अत्रैवलौकिकं दृष्टान्तमाह—यथैका रेखा इति। यथातदेवरेखा स्वरूपं तत्तत्स्थानापेक्षया शतादित्वेन व्यपदिश्यत एवं तदेवधर्मिस्वरूपं तत्तद्धर्मलक्षणावस्था भेदेनान्यत्वेन प्रति निर्दिश्यत इत्यर्थः (वाचस्पतिमिश्रः)

×—अनुभवानुसरण शीलाइत्यर्थं। तमतिवर्त्य—अनुभवातिक्रम्येत्यर्थः
(टि० बालरामः)

वयं न तमतिवर्त्य स्वेच्छया धर्मानुभवान् व्यवस्थापयितुमीश्महे इति ॥

भावार्थ—अनुभव ही धर्म धर्मी के भेदाभेद को सिद्ध कर रहा है। धर्म और धर्मी आपस में न तो सर्वथा भिन्न हैं और ना ही सर्वथा अभिन्न। इनको यदि अभिन्न मानें तो, सुवर्ण धर्मी और हार मुकटादि धर्म, इस लौकिक व्यवहार का लोप हो जायगा मृत्तिका रूप धर्मी के घट शराब आदि धर्मों में जो पारस्परिक भेद तथा भिन्न २ कार्य की साधकता देखी जाती है उसका भी उच्छेद हो जायगा। एवं सर्वथा भिन्न भी नहीं मान सकते यदि धर्मी से धर्मों को सर्वथा भिन्न ही स्वीकार किया जाय तो इनका कार्य कारण सम्बन्ध ही दुर्घट है तब तो सुवर्ण से हार मुकुटादि और मृत्तिका से घट शराबादि कभी उत्पन्न नहीं होने चाहिये तथा ना ही हार मुकुटादि और घट शरावादि सुवर्ण एवं मृत्तिका के धर्म हो सकते हैं क्योंकि ये दोनों (धर्म धर्मी) एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। गाय और घोड़ा आपस में सर्वथा भिन्न हैं। जिस प्रकार इनका धर्म धर्मी भाव और कार्य कारण भाव संबंध नहीं है उसी प्रकार सुवर्ण, हार मुकुटादि और मृत्तिका घट शराबादि का धर्म धर्मी भाव और कार्य कारण सम्बन्ध भी अशक्य हो जायगा परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सुवर्णरूप धर्मी से हार मुकुटादि और मृत्तिका से घट शरावादि की उत्पत्ति का होना सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिये धर्म धर्मी के आत्यन्तिक भेद और अभेद का निरास करके उनके भेदाभेद को ही अबाधितरूप से अनुभव, हमारे सामने सम्यक्तया उपस्थित

करता है। जिस अनुभव ने हमारे सामने धर्मधर्मी की अनेकान्तता को उपस्थित किया है वही अनुभव हमारे समक्ष अनुगत रूप से धर्मी के एकत्व और व्यावृत्ति रूप से धर्मों के अनेकत्व के साथ साथ धर्मी के अविनाशित्व और धर्मों की विनश्वरता को भी उपस्थित करता है। हम तो अनुभव के अनुसार ही पदार्थों की व्यवस्था करने वाले हैं। अनुभव जिस बात की आज्ञा देगा उसी को हम स्वीकार करेंगे। अनुभव का उल्लंघन करके अपनी स्वतंत्र इच्छा से वस्तु व्यवस्थापन के लिये हम कभी तैयार नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने एक और स्थान में भी इसी बात को प्रकारान्तर से लिखा है उसमें भी आपने धर्म धर्मी के भेदाभेद को ही सर्वथा युक्ति संगत बतलाया है।

स्मृति[१] परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थ मात्रनिभासा निर्वितर्का" इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए मिश्रजी लिखते हैं—

नैकान्ततः परमाणुभ्यो भिन्नोघटादिरभिन्नो वा भिन्नत्वे गवाश्चवद् धर्म धर्मिभावानुपपत्तेः। अभिन्नत्वे धर्मिरूपवत्तदनुपपत्तेः। तस्मात् कथं चिद्भिन्नः कथं चिद्भिन्नश्चास्थेय स्तथाच सर्वमुपपद्यते "

[१—विभूतिपाद सू० ४३]

भावार्थ—परमाणुओं से, घटादि पदार्थ एकान्ततया भिन्न अथच अभिन्न नहीं इनको यदि सर्वथा भिन्न स्वीकार करें तो इनके धर्म धर्मी भाव की उपपत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार अत्यन्त भिन्न होने से गाय और अश्व का परस्पर में धर्म धर्मी-भाव नहीं है उसी प्रकार अत्यन्त भिन्न मानने के कारण परमाणु और घटादि का धर्म धर्मी भाव भी निष्पन्न नहीं होगा एवं सर्वथा अभिन्न मानें, तो भी धर्म धर्मी भाव का उपपादन नहीं हो सकता, प्रथम तो धर्म और धर्मी यह भिन्न शब्द निर्देश ही नहीं होगा। दूसरे जब कि धर्मी के अतिरिक्त धर्म नाम का कोई पदार्थ ही नहीं तो फिर धर्म धर्मी भाव सम्बन्ध ही किसका? अतः इनको एकान्ततया भिन्न अथच अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न और कथंचित्—किसी अपेक्षा से—अभिन्न मानना ही युक्ति युक्त है ऐसा मानने पर इनके धर्म धर्मी भाव और कार्य कारण सम्बन्ध की भी सम्यक्तया उपपत्ति हो सकती है और किसी प्रकार के दूषणान्तर का भी समावेश नहीं हो सकता।

इसके सिवाय, "**अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः**" इस योग भाष्य की व्याख्या में भी आप लिखते हैं—

"**कटक कुण्डल केयूरादिभ्यो भिन्नाभिन्नस्य सुवर्णस्य भेद विवक्षया [कटकादि[1] भिन्नस्या-**

---

(१) टिप्पणीकार बालरामजी का कथन है कि इस [ ] चिन्ह के अन्तर्गत जो पाठ है वह मनको उचित प्रतीत नहीं होता अर्थात् वह अधिक है—एतच्चिन्हान्तर्गतं न स्वान्तमावर्जयति।

भेद विवक्षया कटकादभिन्नस्य] सुवर्णस्य कुंडला-दन्यत्वम् । तथाच कटककारी सुवर्णकारः कुंड-लाद भिन्नात्सुवर्णात् अन्यत्कुर्वन्नन्यत्व कारणम्" इत्यादि । इसका प्रकृतोपयोगी तात्पर्य मात्र इतना ही है कि कट-कंकुंडलादि धर्मों से सुवर्ण रूप धर्मी, भिन्न अथच अभिन्न है भेद विवक्षा से वह भिन्न और अभेद विवक्षा से अभिन्न है ।

इसके सिवाय योग दर्शन की, भोज देव कृत राजमार्त्तण्ड नामावृत्ति में भी धर्म धर्मी का भेदाभेद ही स्वीकृत किया है* ।

---

*तंत्रिविधमपिधर्मं योनुपतति, अनुवर्तते अन्वयित्वेन स्वीकरोति सशान्तोदिताव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मीत्युच्यते । यथा सुवर्णं रुचकरूप धर्म परित्यागेन स्वस्तिक रूप धर्मान्तर परिग्रहे सुवर्णरूपतयाऽनुवर्तमानं तेषुधर्मेषु कथंचिद्भिन्नेषु धर्मीरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषा-त्मनास्थितमन्वयित्वेनावभासते ॥समाधिपाद सूत्र ॥१४॥

भावार्थ—उक्त तीन प्रकार के धर्मों को जो सम्बन्धी रूप से स्वीकार करता है वह धर्मी कहलाता है । जैसे रुचक (घोड़े का जेवर) धर्म को विना ही छोड़े, स्वस्तिक (कर्णभूषण) रूप धर्म को स्वीकार करने पर किसी प्रकार भिन्न धर्मों में सामान्यतः धर्मी रूप से और विशेषतः धर्म रूप से स्थित हुआ सुवर्ण (सोना) सम्बन्धी होकर ही प्रतीत होता है । [गुरुकुल विद्यालय सेवि पं० भीमसेन शर्मा कृत भाषा टीका]

*धर्मिणश्च भिन्ना भिन्न रूपतया सर्वत्रानुगमः । समा० सू०-१५ ।

भावार्थ—धर्मी का भेदाभेद रूप से ही सर्वत्र अनुगम होता है ।

[प्रकृति पुरुष का सारूप्य वैरूप्य]

यह बात किसी भी दार्शनिक विद्वान् से छिपी हुई नहीं है कि सांख्य दर्शन मुख्यतया प्रकृति और पुरुष इन दो पदार्थों को ही स्वीकार करता है ! उनमें प्रकृति जड़ और पुरुष चेतन है तथा ये दोनों ही नित्य हैं अन्तर केवल इतना ही है कि पुरुष को तो वह कूटस्थ नित्य मानता है और प्रकृति को वह परिणामि नित्य स्वीकार करता है। परिणति होने पर भी जिसके मूल स्वरूप का विनाश न हो उसको नित्य कहते हैं + प्रकृति की अनेकान्तता का ज़िकर तो हम पीछे कर आये हैं अब प्रकृति के

+ द्वयीचेयं नित्यता कूटस्थ नित्यता परिणामिनित्यताच तत्र कूटस्थ नित्यतापुरुषस्य परिणामि नित्यता गुणानाम् । यस्मिन परिणंस्यमाने तत्वं न विहन्यते तन्नित्यम् ।

(पातंजलभाष्य, कैवल्यपाद सूत्र ३३)

नोट—जैन दर्शन में भी मुख्यतया जीव, अजीव चेतन और जड़ ये दोही पदार्थ माने हैं । परन्तु वह कूटस्थ नित्य किसी पदार्थ को नहीं मानता* उसके मत में चेतन और जड़ सभी पदार्थ नित्यानित्य अथवा परिणामि नित्य हैं । इसका अधिक विवेचन हम आत्मनिरूपण के किसी स्वतंत्र निबन्ध में करेंगे ।

---

* तथाचयद् "अप्रच्युतानुत्पन्न स्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्य लक्षणमाचक्षते तदपास्तं, एवं विधस्यकस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् ।

(स्याद्वाद मंजरी पृ० १६)

कार्य बुद्धि और पुरुष के आत्यन्तिक सारूप्य और वैरूप्य का निषेध करते हुए प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध में अनेकान्तता को जिस प्रकार से भाष्यकार ने स्वीकार किया है उसका दिग्दर्शन कराते हैं। तथाहि—

स पुरुषोबुद्धेः प्रति संवेदी सबुद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्तं विरूपइति। नतावत्सरूपः कस्मात् ज्ञाता-ज्ञात विषयत्वात्...
अस्तुतर्हि विरूपइति नात्यन्तं विरूपः कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनु पश्यति[१] इत्यादि।

इसका प्रकृतोपयोगी तात्पर्य मात्र इतना ही है कि पुरुष बुद्धि से न तो सर्वथा पृथक् है और न अपृथक् किन्तु भिन्ना-भिन्न है। अवशिष्ट लेख में इसी बात की सप्रमाण उपपत्ति की गई है।

वस्तु की अनेकान्तता अथवा सामान्य विशेषत्व

वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष को स्वतंत्र पदार्थ मानकर उनको द्रव्याश्रित स्वीकार किया है। परन्तु अनेकान्त-वाद प्रधान जैन दर्शन को यह सिद्धान्त अभिमत नहीं है।

---

(१) साधनपाद सू० २० का भाष्य)

जैनदर्शन तो इनको स्वतंत्र पदार्थ न मानकर वस्तु के धर्म विशेष ही स्वीकार[1] करता है तथा वस्तु को केवल सामान्य अथच विशेष रूप ही न मानकर उसे सामान्य विशेष उभयात्मक मानना ही युक्ति युक्त और वस्तु स्वरूप के अनुरूप बतलाता है। अतः वस्तु केवल सामान्य-धर्मी अथवा विशेष-धर्म स्वरूप ही नहीं किन्तु सामान्य विशेष उभय[2] रूप है। यही जैन दर्शन को अभिमत है। इस सिद्धान्त का उल्लेख हमको पातंजल योग भाष्य में भी स्पष्ट मिलता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वाक्य पर्याप्त हैं।

(१) सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य ॥ [सभाधिपा० सू० ७]

(२) य एतेष्वभि व्यक्ता न भिव्यक्तेषु धर्मेंष्वनुपाती सामान्य× विशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी।

[विभूति पा० सू० १४]

---

(१) स्वतोऽनुवृत्ति व्यति वृत्तिभाजो भावान भावान्तर नेयरूपाः॥४

[अन्ययोगव्य० हेमचन्द्राचार्यः]

(१) स्वभाव एवायं सर्वभावानां यदनुवृत्ति व्यावृत्ति प्रत्ययौ स्वत-एवजनयन्ति।..............इतिन सामान्य विशेषयोः पृथक् पदार्थान्तरस्व कल्पनं न्याय्यम पदार्थ धर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात्।

[स्याद्वाद मंजरी-मल्लिषेणसूरिः]

(२) अर्थः सर्वेपि सामान्य विशेषोभयात्मकाः।

[नय कर्णिका-विनदवि०उपा०]

× सामान्यं धर्मिरूपं विशेषः धर्मः तदात्मा उभयात्मक इत्यर्थः।

[टी० वाचस्पति०]

(३) सामान्य+विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम् ।

विभू० सु० ४४

भाष्य के इन उक्त सभी पाठों का मतलब यही है कि पदार्थ सामान्य विशेप उभयरूप है ।

मीमांसक धुरीण **पार्थसार मिश्र** का भी कथन है कि संसार की भी वस्तुएं सामान्य विशेष उभयस्वरूप को धारण किये हुये हैं जब कि, गो शब्द को सजातीय सकल गोव्यक्तियों में अनुवृत्ति-एकाकार प्रतीति-और विजातीय अश्वादिकों से व्यावृत्ति-पृथकत्व-रूप का भान कराते हुए प्रत्यक्ष देखा जाता है तब वस्तु मात्र को अन्वय व्यतिरेक अथवा सामान्य विशेष रूप से सिद्ध करने वाले इस प्रत्यक्ष प्रमाण से बढ़कर और कौनसा बलवान् प्रमाण है अर्थात् कोई नहीं इसलिये विश्व के समस्त पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं । तथाहि—

"सर्वेष्वपि वस्तुषु इयमपि गौरियमपिगाः अयमपिवृक्षोऽयमपि, इति व्यावृत्ता नुवृत्ताकारं प्रत्यक्षं देशकालावस्थान्तरेष्वविपर्यस्त मुदीयमानं

+ ये * बाहुः सामान्यविशेषाश्रयो द्रव्यमिति तान्प्रत्याह सामान्य इति सामान्य विशेष समुदायोऽत्रदर्शने द्रव्यम ।

[वाचस्पति मि०]

---

* ये वैशेषिकादयः—[टिप्पणी]

सर्वमेवतर्काभासं विजित्य ह्याकारं[1] वस्तु व्यवस्थापयत् केनान्येन शक्यते बाधितुं नहिततोऽन्यद् बलवत्तरमस्ति प्रमाणं तन्मूलत्वात् सर्व प्रमाणानाम् ।

[शास्त्र दीपिका पृ० ३८७]

इससे यह सिद्ध हुआ कि, वस्तु का स्वरूप एकान्त नहीं किन्तु अनेकान्त है अर्थात् वह केवल धर्म या धर्मी रूप ही न होकर, तथा केवल जाति अथवा व्यक्ति रूप में ही न रहकर धर्म धर्मी जाति व्यक्ति उभयरूप है इसी रूप में उसकी प्रतीति होती है । इस से जैन दर्शन का यह उक्त सिद्धान्त, अन्य दार्शनिक विद्वानों को भी पूर्णतया अभिमत है ऐसा प्रमाणित हुआ ।

[प्रधान की प्रवृत्ति में अनेकान्तता]

सांख्य दर्शन में प्रकृति को प्रधान के नाम से उल्लेख किया है, प्रधान समस्त विश्व का मूल कारण है । **"प्रधीयते जन्यते विकार जातमनेनेति प्रधानम्"** जिससे समस्त विकार जात-कार्य मात्र-उत्पन्न हो उसे प्रधान कहते हैं । परन्तु विश्व रचना के लिये प्रधान की जो प्रवृत्ति है वह एकान्त-

---

(१) सामान्य विशेषाकारं वस्त्वस्तीति व्यवस्थापयति ।

[टीकायां-सुदर्शनाचार्यः]

तथा स्थिति अथवा गति रूप से ही नहीं किन्तु स्थितिगति उभय-रूप से ही है। कारणान्तर में भी ऐसा ही मानना युक्ति युक्त है। इस बात को योगभाष्य में, सांख्य शास्त्र के प्राचीन आचार्यप्रवर-**पंचशिख** की उक्ति में इस प्रकार से वर्णन किया है।

[यत्रेदमुक्तं[१] "प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणाद् प्रधानं स्यात् तथा गत्यैव वर्तमानं विकार नित्यत्वाद् प्रधानंस्यात्। उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधान व्यवहारं लभते नान्यथा कारणा-न्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः"]

प्रधान की प्रवृत्ति में एकान्तता का निषेध करते हुए पञ्च शिखाचार्य कहते हैं—"प्रधान की यदि केवल स्थितिरूप से ही प्रवृत्ति मानें तब तो वह प्रधान ही न रहेगा, क्योंकि उसमें किसी प्रकार की भी विकृति न होने से किसी पदार्थ की भी उत्पत्ति

---

(१) यत्रेद मुक्तमिति—ऐकान्तिकत्वं व्यासेधद्भिः.............. नान्यथा—एकान्ताभ्युपगमे न केवलं प्रधाने कारणान्तरेष्वपि परब्रह्म तन्माया परमाणवादिषु कल्पितेषु समानश्चर्चो विचारः तान्यपिहि स्थित्यैववर्तमा-नानि विकाराकरणादकारणानिस्युः गत्यैव वर्तमानानि विकार नित्यत्वाद कारणानिस्युरिति च। [वाचस्पति मिश्रः]

---

* स्थित्यैव प्रधानं वर्तते नगत्या यद्वा गत्यैव प्रधानं वर्त्तते न स्थित्ये-त्यनयोः पक्षयोरेकतर पक्षावधारण रूपं नियमं निराकुर्वद्भिः पञ्चशिखा-चार्यैरे तदुक्त मित्यर्थः [टिप्पणी कारोबाल रामः]

उससे नहीं होगा एवं यदि उसकी सर्वथा गति रूप से ही प्रवृत्ति स्वीकार की जाय तब भी उसमें प्रधानत्व का व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि सर्वथा गति रूप से ही प्रधान की प्रवृत्ति होने से पदार्थों की सदा उत्पत्ति ही बनी रहेगी उनका विनाश कभी नहीं होगा और इस प्रकार सदा अविनाशी रूप से स्थित रहने वाले भाव—पदार्थ-की उत्पत्ति भी दुर्घट है अतः न केवल स्थिति और न केवल गति रूप से हो प्रधान को प्रवृत्ति माननी उचित है किन्तु गति स्थिति उभयरूप से ही उसकी प्रवृत्ति का अंगीकार करना न्यायोचित है। इसी से उसमें प्रधानत्व का व्यवहार सुचारु रूप से किया जा सकता है। यह बात केवल प्रधान के ही लिये नहीं किन्तु दर्शनान्तरों में कल्पना किये गये अन्यान्य सृष्टिकारणों (ब्रह्म, माया, परमाणु आदि) के लिये भी यही विचार है। संसारोत्पत्ति के लिये उनकी भी यदि केवल स्थिति रूप से ही प्रवृत्ति मानी जाय तो उनमें किसी प्रकार को विकृति न होने से वे कारण नहीं ठहर सकते और यदि सर्वथा गति रूप से ही प्रवृत्ति मानें तब भी वे कारण नहीं बन सकते क्योंकि गति रूप से प्रवृत्ति मानने पर सदा विकृति ही बनी रहेगी अर्थात् उत्पत्ति की ही सदा विद्यमानता होगी विनाश कभी नहीं होगा इसलिये ब्रह्म, माया और परमाणु आदि जितने भी पदार्थ दर्शनान्तरों में विश्व की उत्पत्ति के निमित्त कल्पना किये गये हैं उनकी प्रवृत्ति भो स्थिति और गति उभय रूप से ही माननी युक्ति युक्त और न्याय संगत है।

[ईश्वर की प्रवृत्ति में अनेकान्तता]

[शंकर स्वामी]

स्वनामधन्य स्वामि शंकराचार्य ने सांख्यों के प्रधान कारण-वाद का खण्डन करते हुए ईश्वर की प्रवृत्ति में अनेकान्तवाद का ही अनुसरण किया है। आप लिखते हैं—

सांख्यानां त्रयोगुणाः साम्येनावतिष्टमानाः प्रधानम् नतु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्वाह्यमपेक्ष्यमवस्थिमस्ति। पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम् अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिच्च न परिणमते इत्येतदयुक्तम्। ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्व शक्तिमत्वात् महामायत्वाच्च प्रवृत्य प्रवृतीन विरुध्येते ॥४॥

(ब्रह्म सू० शां० भा० अ० २ पा० २ सू० ४)

भावार्थ—सांख्यमत में गुणत्रय की साम्यावस्था को प्रधान कहा है। इन गुणों के अतिरिक्त प्रधान का प्रवर्त्तक अथवा निवर्त्तक दूसरा कोई नहीं। पुरुष सर्वथा उदासीन है वह न किसी का प्रवर्त्तक है और न निवर्त्तक। तब तो प्रधान निरपेक्ष ठहरा, निरपेक्ष होने से उसका महदादि आकार से कदाचित्

परिणत होना और कदाचित् न होना यह व्यवस्था नहीं हो सकती अर्थात् निरपेक्ष होने से प्रधान में प्रवृत्ति अथच निवृत्ति ये दोनों बातें सम्भव नहीं हो सकतीं। परन्तु ईश्वर में यह दोष नहीं क्योंकि वह सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान है और उसकी अद्भुत माया है इससे उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही सम्भव हैं तात्पर्य कि उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों ही विरोधी धर्म रह सकते हैं इत्यादि।

हमारे ख्याल में तो शंकर स्वामी ने एक प्रकार से अनेकान्त-वाद का अवलम्बन कर लिया! उनके कथन का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि सांख्य दर्शन में केवल प्रधान को जो जगत् का कारण माना है वह उन्हें अभिमत नहीं। उनका कहना है कि कारण में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही होने चाहियें परन्तु प्रधान जड़ है इसलिये उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों बातें सम्भव नहीं हो सकतीं। यदि उसमें प्रवृत्ति-महदादि आकार से परिणत होना मानें तो निवृत्ति-साम्यरूप से अवस्थित रहना—का उसमें सम्भव नहीं और यदि निवृत्ति को स्वीकार करें तो फिर प्रवृत्ति की संभावना नहीं होसकती क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों आपस में विरोधी हैं इनका एक स्थान में रहना बन नहीं सकता। जगत्-कारणरूप प्रधान में इन दो में से एक ही रहेगा इसलिये केवल प्रधान को जगत् का कारण नहीं मान सकते। परन्तु ईश्वर के लिये यह बात नहीं उस में तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों ही रह सकते हैं क्योंकि वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति वाला है और अपने में अद्भुत माया रखता है इस वास्ते उसमें उक्त विरोधी धर्म भी भली भांति रह सकते हैं।

शंकर स्वामी ने प्रवृत्ति निवृत्ति इन दो विरोधी धर्मों का प्रकृति में नहीं किंतु ईश्वर में स्वीकार किया है चलो ईश्वर में ही सही, मगर स्वीकार तो किया। बस यही अनेकान्तवाद का प्रकारान्तर से स्वीकार है। अनेकान्तवाद भी तो "परस्पर में विरुद्ध रूप से भान होने वाले धर्मों का, सापेक्षतया वस्तु में स्वीकार करने का ही नाम है। अपेक्षावाद का अवलम्बन शंकर स्वामी ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर किया[1] है, एवं उनका अनिर्वचनीय शब्द भी प्रायः अनेकान्तवाद का ही रूपान्तर से परिचायक है।

---

(१) क—परएवात्मा देहेन्द्रिय मनो बुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शरीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशात् अपरिच्छिन्नमपिनभः परिच्छिन्न वदवभासते। तदपेक्षयाचकर्मकतृत्वादि व्यवहारो न विरुध्यते।

(ब्र० सू० शां० अ० १ पा० २ सू० ७ पृ० १६६)

(ख)—निर्गुणमपिसद्ब्रह्म नामरूप गतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थान विशेषो न विरुध्यते शालग्राम इवविष्णोरित्येतदप्युक्तमेव।

(ब्र० सू० शां० भा० अ० १ पा० २ सू० १४ पृ० ११७)

(ग)—नन्वभेद निर्दिशोपि दर्शितः "तत्वमसि" इत्येवंजातीयकः। कथं भेदा भेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्। नैषदोषः। आकाश घटाकाशन्याये नोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्।

(शां० भा० अ० २ पा० १ सू० २२)

(वास्तवमेकत्वमौपाधिकं नानात्वमित्युभयनिर्देशोपपत्तिः)

[आनन्द गिरिः]

[सांख्य तत्व कौमुदी]

निरीश्वर वादी सांख्य दर्शन के सुप्रसिद्ध आचार्य ईश्वर-कृष्ण रचित सांख्य कारिकाओं पर **"सांख्य तत्त्व कौमुदी"** नाम की व्याख्यारूप एक सुप्रसिद्ध पुस्तक है उसके रचयिता श्री निखिल तंत्र स्वतंत्र आचार्य वाचस्पति मिश्र हैं। इस पुस्तक में भी अनुमान के उदाहरण में **"वन्हित्व"** को सामान्य विशेष उभय मानते हुए अनेकान्त वाद का किसी एक रूप में समर्थन किया हुआ देखा जाता है। वह पाठ इस प्रकार है—

(थ) उच्यते द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नाम रूप विकार भेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितम्।..............................
एवमेकमपिब्रह्मापेक्षितोपाधि। सम्बन्धं निरस्तोपाधि संबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेनच वेदान्तेषूपदिश्यते।

(ब्र० सू० शां० अ० १ पा० १ सू० ११)

(च) इह पुनर्व्यवहारविषयिकं सत्यं मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यमुच्यते। (तै० उ० शां० भा० २। ६। ३)

(छ) उपाधि वशात्संसारित्वं न परमार्थतः स्वतोऽसंसार्येव। **एवमेकत्वं नानात्वं च** हिरण्यगर्भस्य तथा सर्वजीवानाम्।

(बृ० उ० शां० भा० १। ४। ६)

इन वाक्यों में अपेक्षावाद की पूरी पूरी झलक दिखाई दे रही है। इन पर अधिक विचार करना अनावश्यक है। अनिर्वचनीय शब्द पर आगे विचार होगा।

"यथाधूमात् वन्हित्व सामान्यविशेषःपर्व-तेऽनुमीयते"[1]

अर्थात् पूर्ववत्-अनुमान के उदाहरण में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि "जैसे धूम के ज्ञान से वन्हित्व रूप सामान्यविशेष का पर्वत में अनुमान होता है। यहाँ पर वन्हित्व को सामान्य अथच विशेष उभयरूप से स्वीकार करना ही अनेकान्तवाद का अनुसरण है।

---

(१) इस पर व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद भाष्य की सम्मति द्वारा साधुप्रवर बालराम जी ने जो प्रकाश डाला है, विद्वन्मंडली के अवलोकनार्थ उसको भी हम अविकल रूप से यहां पर उद्धृत करे देते हैं।

"नात्रवन्हित्व सामान्यस्य विशेषोऽनुमेय इति विवक्षितं किन्तर्हि वन्हित्वरूपः सामान्य विशेषोऽनुमीयते, इत्यभिप्रेतमितिगृहाण कथं वन्हित्वस्य सामान्य विशेषोभयात्मकत्वमितिचेत् अत्राहुः पदार्थधर्म संग्रहकाराः (सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्ति प्रत्यय कारणं तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात् साचानुवृत्तेरेवहेतुत्वात्सामान्यमेव द्रव्यत्वाद्यपरमल्प विषयत्वात् तच्चव्यावृत्ते रपिहेतुत्वात्सामान्यं सद् विशेषाख्यामपिलभते) इति।

अयमर्थः—अत्यन्त व्यावृत्तानां तत्वानां यतः कारणादन्योन्य स्वरूपानुगमः प्रतीयते तत्सामान्यमित्यभिधीयते तच्च द्विविधम् एकं द्रव्यादि-त्रिकवृत्ति सत्ताख्यंपरम्, एतच्च स्वाश्रयस्यानुवृत्तेरेवहेतुत्वात्सामान्यमित्येव कीर्त्यते। अपरंच द्रव्यत्व पृथितीत्व गोत्वादि रूपमपरं सामान्यम् एतच्चस्वा श्रयस्य विजातीयेभ्योपि व्यावृत्तेरपिहेतुत्वात् विशेषइत्यपि व्यवह्रियते, तथा च सिद्धवन्हित्वादेः सामान्य विशेष रूपत्वमिति।

(पृ० १०२। का० ५)

[मीमांसा श्लोक वार्तिक]

मीमांसा दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान महामति कुमारिल भट्ट ने महर्षि जैमिनी प्रणीत मीमांसा दर्शन पर तंत्र वार्तिक और श्लोक वार्तिक नाम के दो बड़े ही उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे हैं उनमें से श्लोक वार्तिक में ही दार्शनिक विषयों की अधिक चर्चा की है। उक्त ग्रन्थ में ऐसे कितने ही स्थल हैं जिन में कि अनेकान्तवाद की चर्चा स्पष्ट देखने में आती है, हमारे ख्याल में तो अन्य दार्शनिक विद्वानों की अपेक्षा कुमारिल भट्ट ने कुछ अधिक और स्पष्ट शब्दों में अनेकान्तवाद का समर्थन किया है। पाठक उनके लेखों को देखें वे कितने सरल और स्पष्ट हैं। अवयवों से अवयवी के भेदाभेद का विचार करते हुए महामति कुमारिल लिखते हैं—

क—पूर्वोक्तादेव तुन्यायास्तिद्भेदस्त्रावयव्यपि।
तस्याप्यन्त[1] भिन्नत्वं नस्यादवयवैः सह ॥७५॥
व्यक्तिभ्यो जातिवच्चैष न निष्कृष्टः प्रतीयते।
कैश्चदव्यति रिक्तत्वं कैश्चिच्च व्यति रिक्तता ॥७६॥
दूषिता साधिताऽत्रापि नच तत्र बलाबलम्।
कदापि निश्चितं कैश्चित्तस्मान्मध्यस्थतावरम् ॥७७॥

---

(१) किमत्यन्तभिन्नोऽवयवी—तस्यापीति, कस्मादित्याह व्यक्तिभ्यइति तन्तवएवहि संयोग विशेष वशेन एक द्रव्यत्वमापन्नाः पटोय मित्येकाकारतया बुद्धयागृह्यन्ते, अतोऽवस्थामात्रादेवावयवेभ्योऽवयविनो भेदो नत्वत्यन्त भेद इति।

ततोन्यानन्यते तस्य स्तोनस्तश्चेति कीर्त्यते ।
तस्माच्चित्रवदेवास्य मृषा स्यादेकरूपता ॥७८॥
वस्त्वनेकत्ववादाच्च× न संदिग्धा प्रमाणता ।
ज्ञानं संदिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता ॥७९॥
*इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ॥**

भावार्थ—अवयवों से अवयवी अत्यन्त भिन्न नहीं किन्तु भिन्नाभिन्न है। कितने एक विद्वान अवयवों से अवयवी को एकान्तरूप से भिन्न मानते हैं और कई एक ने इनको सर्वथा अभिन्न सावित किया है। इन विद्वानों ने अपने पक्ष के समर्थन और पर पक्ष के खंडन में जिन २ युक्तियों का उल्लेख किया है उनसे आज तक यह निश्चित नहीं हो सका इनमें से एकान्ततया किसका पक्ष प्रबल और किसका दुर्बल है। भेदवाद की युक्तियें जिस तरह भेद वाद को पूर्णतया सिद्ध कर रही हैं उसी प्रकार अभेद वाद की युक्तियें अवयव अवयवी के अभेद का भी पूर्ण-रूप से समर्थन कर रही हैं। इससे मध्यस्थ भाव का आश्रयण करना ही उचित है। टीकाकार पार्थसार मिश्र के वचनों में इसका अभिप्राय यह है कि "जो लोग" अवयव, अवयवी को एकान्ततया भिन्न अथच अभिन्न मानते हैं वे ही लोग खुद अने-कान्तवाद को सिद्ध कर रहे हैं। क्योंकि भेद और अभेदवादी

× अनेकान्त वादादिति ३ पु० पाठः ।

* श्लो० वा० वनवाद पृ० ६३२-३३ । (तारायंत्रालय बनारस सिटी)

दोनों ही दलों की युक्तियें अपने २ पक्ष के समर्थन में समर्थ हैं इनमें से किसी एक का भी सर्वथा स्वीकार अथवा त्याग नहीं हो सकता, प्रत्युत दोनों ही आदरणीय हैं, अतः भेद अथच अभेद दोनों ही सिद्ध होगये। अवयव, अवयवी के भेद और अभेद को एकान्तरूप से सत् अथवा असत् नहीं बतलाया जा सकता इसलिये इनको एकान्त रूप मानना मिथ्या है। शंका-अववय अवयवी को भिन्नाभिन्न उभयरूप मानने पर दो में से किसी एक पक्ष का भी निश्चय न होने से संशय ज्ञान की तरह यह विचार भी अप्रमाणिक अतएव भ्रान्त ठहरेगा। जैसे एक रुण्ड मुण्ड दरख्त में "थाणुर्वा पुरुषोवा" यह स्थाणु है या पुरुष ऐसा संशय होने से वह ज्ञान या निश्चय प्रमाणिक नहीं कहला सकता। इसी प्रकार अवयव अवयवी के भेदाभेद ज्ञान को भी अनिश्चयात्मक होने से अप्रमाणिकता प्राप्त होगी।

येचैकान्तिकं भेदमभेदं वाऽवयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकान्तवादः साधित इत्याह कैश्चिदितिसार्द्धेन उभयोक्तयुक्ति बलादेवोभय सिद्धिरिति। यतश्चाऽन्यत्व मनन्यत्वं च द्वयं सदसत्तया न शक्यं दर्शयितुं, मतश्चित्र बदनेक रूपत्वादत्रैक रूपाऽभ्युपगमो मृषेत्याह तत इति।

नन्वेव मन्यानन्यत्व वादिनामन्यतमस्या नबधारणात् स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिवत्संदेहान्न किंचिदप्यन्यानन्यत्वादिकं बाधितं किं सिध्येदत आह वस्त्विवतिसार्द्धेन—वस्तु विषयोह्यस्माकमनेकान्तबादो नैकाकारं बस्त्विति। यत्रतुज्ञान मेवाऽवस्तुरूप मनेकमवभासते किमयं स्थाणुः किंवा पुरुषइति तत्र संशयादप्रामाण्यंभवति इहत्वनेक रूपमेववस्त्विति निर्णयात्कुतोऽप्रमाण्यमिति।

(न्याय रत्नाकर व्याख्या पृ० ६३३)

उत्तर—हमारे मत में तो वस्तु मात्र ही अनेकान्त है एकान्त नहीं। जहाँ पर अवस्तु रूप ज्ञान का अनेक रूप से भान हो वहाँ पर ही संशय होने से उक्त ज्ञान को अप्रमाणिकता की प्राप्ति होती है यथा स्थाणुर्वा पुरुषोवा परन्तु यहाँ पर तो वस्तु का स्वरूप ही अनेकान्त अंगीकार किया गया है। इसलिये उक्त स्थल में अप्रामाणिकता का सन्देह नहीं हो सकता। क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही इस प्रकार का है। इसके सिवाय, वस्तु को अनेकान्त रूप बतलाने वाला श्लोक वार्तिक का एक और स्थल भी अवलोकन करने योग्य है।

संवित्तेश्चाविरुद्धाना मेकस्मिन्नप्यसम्भवः।
एकाकारं भवेदेक मिति नेश्वर भाषितम् ॥२१९॥
तथैव तदुपेत्तव्यं यद्यथैवोपलभ्यते।
नचाप्यैकान्तिकं तस्य स्यादेकत्वंच वस्तुनः ॥२२०॥

वस्तु सर्वथा एकान्त रूप ही है यह ईश्वर का कहा हुआ नहीं अर्थात् एक वस्तु सर्वदा एक रूप में ही रहती है इसमें कोई प्रमाण नहीं।

× यदुक्तं प्रतीति भेदादेकस्यापि वह्वाकारत्वमिति तद्विवृणोति, एकेति। न ह्येक मेकाकारमेवेति किंचन प्रमाणमस्ति। तेनयद्यादृशमेकाकार मनेकाकारं वोपलभ्यतेतत्तथैवाङ्गीकर्त्तव्यमिति। किन्त्वेकत्वमपि तस्य वस्तुनो न केनचिद् व्यवस्थापितम्-यतोऽनेकाकारता न स्यात् तदपि ह्यनेक धर्ममवगम्यमानं तेनात्मना नैकतामपि भजते। (व्याख्या पृष्ठ १३१ प्र० शून्यवादः)

इस लिये वस्तु एक अथवा अनेक जिस रूप में प्रतीत हो उसको (वस्तु को) उसी रूप में अंगीकार करना चाहिये। वस्तु में एकत्व की स्थापना और किसी ने आकर नहीं की जिससे कि उसमें अनेकत्त्व का निषेध किया जावे किन्तु एकत्वानेकत्व की व्यवस्था, उसमें-वस्तु में उपलभ्य मान एक और अनेक धर्मों की अपेक्षा स्वत: सिद्ध है, अत: वस्तु में एकत्त्व की तरह अनेकत्त्व भी प्रमाण सिद्ध है।

इसी प्रकार अभाव प्रकरण में वस्तु को सदसत उभय रूप मान कर और भी सुन्दरता से अनेकान्तवाद का विधान उक्त ग्रन्थ में किया है। यथा—

"स्वरूप[1] पर रूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपंकिंचन कदाचन ॥१२॥

[पृ० ४७६]

वस्तु, स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् एवं स्वरूप पर रूप से सदसत् उभय रूप है। जैसे घट, स्वरूप से—स्वरूप की अपेक्षा से—सत् और पर—पटरूप से—पट की अपेक्षा से असत् है,

---

(१)—सर्वंहि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घटरूपेणासन् घटरूपेणाऽसन् पटोप्यसद्रूपेण भावान्तरे घटादौ समवेत: तस्मिन् स्वीयाऽसद्रूपाकारां बुद्धिं जनयति योऽयं घट: स पटो न भवति। (व्याख्या)

इत्यादि× इसके सिवाय उक्त ग्रन्थ के आकृतिवाद प्रकरण में वस्तु के भेदाभेद एकत्वानेकत्व तथा सामान्य विशेष स्वरूप और नित्यानित्यत्व का जिकर करते हुए कुमारिल लिखते हैं—

"सर्वं वस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका ।
जायते द्व्यात्मकत्वेन विना साच न सिद्ध्यति ॥५॥

अन्योन्यापेक्षिता नित्यं स्यात्सामान्य विशेषयोः ।
विशेषाणांच सामान्यं तेच तस्य भवन्ति हि ॥६॥

निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।
सामान्य रहित त्वाच्चविशेषास्तद्वदेवहि ॥१०॥

तदनात्मक रूपेण हेतू वाच्या विमौ पुनः ।
तेन नात्यन्त भेदोपि स्यात् सामान्य विशेषयोः ॥११॥

[पृ० ५४६-४७-४८]

× जैन ग्रन्थों में भी इसी प्रकार लिखा है । यथा—

सर्वभावानांहि भावाभात्मकंस्वरूपं । एकान्त भावात्मकत्वे वस्तुनो वैरूप्यंस्यात् । एकान्ताभावात्मकत्वेच निःस्वभावता स्यात् तस्मात् स्वरूपेण सत्वात् पररूपेण चा सत्वात् भावाभावत्मकं वस्तु । यदाह—

सर्वमास्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्तिच ।
अन्यथा सर्वसत्वंस्यात् स्वरूपस्याप्य संभवः ॥

(स्याद्वाद मंजरी-मल्लिषेण सूरिः पृ० १०७ का १३)

"एवंच[1] परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्व कल्पना।
केन चिद्व्यात्मनैकत्वं नानात्वं चास्य केनचित् ॥५॥

[पृ० ५६०]

इन श्लोकों का संक्षेप में अभिप्राय यह है सर्व वस्तुओं का अनुवृत्ति, व्यावृत्ति—सामान्य विशेष रूप से ही भान होता है। इनके विना वस्तु का वस्तुत्व ही असिद्ध है। तथा सामान्य विशेष ये दोनों सापेक्ष हैं, दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा नित्य अथच अनित्य भिन्न और अभिन्न हैं एक की दूसरे के विना सिद्धि नहीं हो सकती। विशेष से शून्य सामान्य, और सामान्य विरहित विशेष, दोनों ही शशविषाण—ससले के सींग—के तुल्य हैं। इनके विना वस्तु का वस्तुत्व भी वैसा ही है। इस लिये सामान्य विशेष आपस में अत्यन्त भिन्न नहीं है ॥११॥

---

(१)—यत्वन्यानन्यतैव कथमेकस्येत्युक्तं तत्राह एवमिति-एतदेव दर्शयति केन चिदिति गोत्वंहि शावलेयात्मना बाहुलेयाद्भिद्यते स्वरूपेण च नभिद्यते तथा व्यक्ति रपि गुण कर्म जात्यन्तरात्मनागोत्वाद् भिद्यते, स्वरूपेण च न भिद्यते तथा व्यक्त्यन्तरादपि व्यक्तिः जात्यात्मनाच न भिद्यते स्वरूपेण च भिद्यते अपेक्षा भेदादविरोधः समाविशन्तिहि विरुद्धान्यपि अपेक्षा भेदात्। एकमपीह किंचिदपेक्ष्य ह्रस्वं किञ्चिदपेक्ष्य दीर्घं तथैकोपि चैत्रो द्वित्वापेक्षया भिन्नोपि स्वात्मापेक्षया न भिद्यंत अनेनैकानेकत्वमपि परिहर्तव्यं तत्त्वहि वस्तु स्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा चैकमपिशावलेयादि रूपेणानेकं भवतीति न विरोधः।

(व्याख्याकार:)

इसी प्रकार अपेक्षा भेद से वस्तु में भेदाभेद और एकत्वा नेकत्वादि सभी धर्म रह सकते हैं गोत्व जाति, स्वरूप से यद्यपि भिन्न नहीं तथापि श्वेत और कृष्ण गौ की अपेक्षा वह अवश्य भिन्न है। इसी तरह गो व्यक्ति गुण कर्म और जात्यन्तर की अपेक्षा, गोत्व रूप जाति से भिन्न होती हुई भी स्वरूप की अपेक्षा अभिन्न है, तथा व्यक्ति भी व्यक्त्यन्तर से स्वरूप की अपेक्षा भिन्न है, जाति की अपेक्षा से नहीं जाति की अपेक्षा से तो व्यक्ति व्यक्त्यन्तर से भी अभिन्न है। यह बात लोक में प्रत्यक्ष देखी जाती है कि विरोधी धर्म भी अपेक्षा भेद से एक स्थान में रह सकते हैं। एक ही पदार्थ किसी की अपेक्षा से ह्रस्व और किसी की अपेक्षा से दीर्घ कहा या माना जाता है। और एक ही चैत्र दूसरे की अपेक्षा भिन्न होता हुआ भी स्वरूप से एक अथवा अभिन्न है ऐसे ही वस्तु, स्वकीयरूप से सदा एक होते हुए भी तत्तद्रूप की अपेक्षा अनेक कही या मानी जा सकती है इसमें विरोध की कोई आशंका नहीं।

महामति कुमारिल ने अनेकान्तवाद का किस रूप और किस सीमा तक समर्थन किया है इस पर अधिक अब कुछ भी कहना सुनना व्यर्थ है, विज्ञपाठक इसका स्वयं ही अन्दाजा लगा सकते हैं।

[शास्त्र दीपिका]

कुमारिल भट्ट के परवर्ति विद्वान महामति **पार्थसार मिश्र** ने भी मीमांसा दर्शन पर **"शास्त्र दीपिका"** नाम का एक

उच्च कोटि का संस्कृत भाषा का ग्रन्थ लिखा है उसमें भी अनेकान्तवाद की चर्चा के कई स्थल हैं। पार्थसार मिश्र ने भी कुमारिल भट्ट की तरह बड़ी प्रौढ़ता से अनेकान्तवाद का प्रतिपादन-समर्थन किया है इतना ही नहीं बल्कि, विरोधियों के आक्षेपों का भी बड़ी उत्तमता से परिहार किया है। यथा—

[अवयव, अवयवी अथवा कार्यकारणका भेदाभेद]

प्रथम अवयव, अवयवी अथवा कारण और कार्य को लीजिये ? अवयवों से अवयवी, एकान्ततया न तो भिन्न है और न अभिन्न किन्तु भिन्नाभिन्न उभय रूप है तात्पर्य कि जिस प्रकार इनका भेद अनुभव सिद्ध है उसी प्रकार अभेद भी युक्तियुक्त है। दो में से किसी एक का भी सर्वथा तिरस्कार नहीं किया जा सकता इसलिये भेदाभेद दोनों ही स्वीकृति के योग्य हैं। तभी पदार्थों की ठीक २ व्यवस्था हो सकती है। अतएव इनका अवयव अवयवी और कार्य कारण का एकान्ततया भेद और अभेद मानने वाले वैशेषिक तथा वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त में जैन दर्शन की भाँति अपूर्णता का अनुभव करते हुये मीमांसक धुरीण पार्थसार मिश्र लिखते हैं—

"वयंतु भिन्नाभिन्नत्वं नहि तन्तुभ्यः शिरः पाण्यादिभ्योवा अवयवेभ्यो निष्कृष्टः पटो देवदत्तो वा प्रतीयते तन्तु पाण्यादयोऽवयवाएवपटा-

ब्यात्मना प्रतीयन्ते विद्यतेच देवदत्ते अस्यहस्तः शिरः इत्यादि क्रियानपि भेदावभासइत्युपपन्नमुभ- यात्मकत्वम्"]

तात्पर्य—हमतो अवयवों से अवयवी अथवा कारण (उपा- दानरूप) से कार्य्य को न तो एकान्ततया भिन्न मानते हैं और न अभिन्न, किन्तु भिन्नाभिन्न उभयरूप से स्वीकार करते हैं अर्थात् अवयवरूप कारण से अवयवीरूप कार्य्य किसी अपेक्षा से भिन्न और किसी दृष्टिविन्दु से अभिन्न भी है। यदि कारण से कार्य को सर्वथा भिन्न ही मान लिया जाय तब तो, तन्तुओं से पट और हस्तपादादि से पुरुष रूप अवयवी की भिन्नरूप से पृथक् उपलब्धि होनी चाहिये परन्तु होती नहीं। इससे प्रतीत होता है कि जो पट एवं मनुष्य के अवयव हैं वे ही अमुक सम्बन्ध द्वारा सम्मिलित हुए पट और मनुष्य के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं अतः सिद्ध हुआ कि कारण से कार्य एकान्त भिन्न नहीं। परन्तु इस ख्याल से इनको सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते यदि इनका एकान्त अभेद ही मान लिया जाय तो लोक में, यह कारण और यह इसका कार्य, तथा पुरुष के लिये यह इसका पाद और हस्त एवं यह इसका सिर इत्यादि जो व्यवहार देखा जाता है उसकी उपपत्ति कभी नहीं हो सकती क्योंकि हस्तपा- दादि अवयवों से अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से पुरुष नाम की यदि

+ [शास्त्रदीपिका पृ० ४१२ विद्या विलास प्रेस काशी]

निष्कृष्टः—पृथक्कृतः [इति टीकाकारः]

कोई व्यक्ति ही न हो तो यह उसका-पुरुषका-सिर और यह उसका पाद इस प्रकार का सर्वानुभव सिद्ध भेद व्यवहार ही कैसे होगा। इस व्यवहार को भ्रान्त कहना या मानना हमारे ख्याल में भ्रान्ति से भी बड़ी भ्रान्ति है। यह व्यवहार तो स्पष्ट रूप से अवयय अवयवी के भेद को साबित कर रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि अवयव अवयवी अथवा कारण और कार्य का परस्पर में भेद अथच अभेद दोनों ही प्रामाणिक और अनुभव सिद्ध हैं।

जाति व्यक्ति के सम्बन्ध में भी आपका वही विचार है जिसका जिकर ऊपर आचुका है अर्थात् जाति व्यक्ति का भी एकान्त भेद अथवा अभेद शास्त्र दीपिका कार को अभिमत नहीं, किंतु भेदा भेद ही सम्मत है।

"तादात्म्यप्रतीतेर भेदोप्यस्तु पूर्वोक्त न्यायेन भेदोपि तस्मात् प्रमाण बलेन भिन्नाभिन्नत्व मेवयुक्तम्"

अर्थात्—जाति व्यक्ति की तादात्म्य स्वरूपतया प्रतीति होने से ये दोनों अभिन्न हैं और ऊपर दोगई युक्तियों द्वारा इनका परस्पर भेद भी[1] अनुभव सिद्ध है इसलिये प्रमाण बल से भेदाभेद दोनों ही माननीय हैं।

---

(१) अनुपदमेव यत् भेद प्रतिपादनं कृतं तेन। टीका।

[विरोध परिहार अथवा आक्षेप निराकरण]

यह बात ऊपर कई दफ़ा कही जा चुकी है कि जैन दर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्ततया नित्य अथच अनित्य नहीं मानता किन्तु नित्यानित्य उभय रूप ही स्वीकार करता है तथा उसके मत में द्रव्य रूप से सभी पदार्थ नित्य और पर्याय रूप से अनित्य हैं इसी प्रकार द्रव्य पर्याय, धर्म धर्मी, गुणगुणी और कार्य कारण को एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न न मान कर उनको भिन्नाभिन्न ही स्वीकार करता है इस बात को परिपूर्ण समझ कर ही जैन दर्शन में अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है परन्तु जो वस्तु नित्य अविनाशी है उसे अनित्य विनाश शील भी कहना और भिन्न हो उसे अभिन्न भी बतलाना तथा एक को अनेक भी कथन करना किस प्रकार युक्ति युक्त कहा जा सकता है। क्योंकि जो पदार्थ अविनाशी है वह विनाशी नहीं हो सकता तथा जो विनाश शील है उसे नित्य नहीं कह सकते एवं जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे तथा जो एक है वह अनेक किस प्रकार ? नित्य, अनित्य का विरोधी है, भेद अभेद का प्रतिद्वन्दी और अनेक एक का शत्रु है। क्या एक ही पदार्थ को नित्य कहते हुए अनित्य कहना, भिन्न बतलाते हुये अभिन्न भी मानना एक प्रकार का उन्मत्त प्रलाप नहीं है ?

इसी प्रकार सत्, असत् और एकत्वानेकत्वादि के विषय में भी यही न्याय समझना चाहिये अर्थात् जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता तथा जो एक है वह अनेक नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा ही माना जाय तब तो शीत को उष्ण और उष्ण को शीत भी कह और मान सकते हैं ! इसलिये, वस्तु नित्य भी है

और अनित्य भी, भिन्न भी है और अभिन्न भी तथा एक भी है और अनेक भी इत्यादि प्रकार का उन्मत्त प्रलाप निस्सन्देह विस्मयोत्पादक है ! इसी विचार को लेकर जैन दर्शन के प्रतिद्वन्दी शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिक विद्वानों ने अनेकान्तवाद को उचितानुचित शब्दों में कोसा है ! और उसकी कड़ी से कड़ी आलोचना की है । किसी ने इसको (अनेकान्तवाद को) उन्मत्त प्रलाप; किसी ने संशयवाद और किसी ने अनिश्चितवाद के नाम से उल्लेख करके इसके समर्थकों की भी खूब+ खबर ली है ।

परन्तु—प्राचीन तथा अर्वाचीन जैन विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद पर होने वाले इन उक्त आक्षेपों का संयुक्त उत्तर देने में किसी प्रकार की कमी नहीं रक्खी और अनेकान्तवाद का स्वरूप तथा पदार्थों की अनेकान्तता को जैन दर्शन किस रूप में मानता है इत्यादि बातों को उन्होंने बड़ी शांति और प्रौढ़ता से समझाने की कोशिश भी की है तथा कड़ी आलोचना का उत्तर उन्होंने भी उसके अनुरूप शब्दों में ही दिया है * तथापि उन सबका हम यहां

---

* *दूषयेदज्ञ एवोच्चैः स्याद्वादं नतु पण्डितः ।*
अज्ञप्रलापे सुज्ञानां न द्वेषः करुणैवहि ॥
उपाध्याय यशोविजय अध्यात्मोपनिषत् अ० २ श्लो ५४

एवं न्यायाविरुद्धेऽस्मिन् विरोधोद् भावनं नृणाम् ।
व्यवसनं वाजडत्वं वा प्रकाशयाति केवलम् ॥
(शा० वा० स० स्त० ७ श्लो० १४ हरिभद्रसूरि)

+देखो—ब्रह्मसूत्र २-२-३१ पर शंकराचार्य प्रभृति विद्वानों के भाष्य

पर विकर न करते हुये महामति पार्थसार मिश्र की ही उन उक्तियों का इस स्थान में उल्लेख करते हैं जिनके द्वारा उन्होंने उक्त शंकाओं अथवा आक्षेपों का निराकरण किया है जैन दर्शन में भी प्रायः इसी प्रकार की युक्तियों का उक्त आक्षेप समूह के निरसनार्थ अनुसरण किया है। इनमें बलाबल का विचार पाठक स्वयंकरें।

क-[ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम्? न विरोधः सहदर्शनात्[1] यदि हि "इदं रजतं नेदं-रजतं" इतिवत् परस्परोपमर्देन भेदाभेदौ प्रतीये-यातां ततो विरुद्ध्येयातां नतु तयोः परस्परोपमर्देन

---

(१) ययोः सहदर्शनं भवति तयोर्नविरोधो भवति जाति व्यक्त्योस्तु भेदाभेदावपि सह दृष्टाविति न तयोर्विरोधि इति युक्तं जाति व्यक्त्योर्भि-न्नाभिन्नत्व मित्यर्थः। उपपादयति-यदीत्यादिना। भेदाभेदौ जाति व्यक्त्यो-रिति शेषः। तयोः भेदाभेदयोः। किंतु परस्परानुकूल्येनैव प्रतीतिर्भवती-तिशेषः। अपर्यायेण-अपर्यायत्वेन-भिन्न विषयिकत्वेन प्रतिभासमानम् इयमितिबुद्धिर्व्यक्तिं विषयी करोति गौरितिच सामान्यम्। द्व्यात्मकम्-सामान्य विशेषरूपम्। भेदाभेदयोः समुच्चये हेतुमाह-सामानाधिकरण्येति, इयं गौरिति सामानाधिकरण्यं जातिव्यक्त्यो रभेदं बोधयति, अन्यथा घट पटयोरिव सामानाधिकरण्यं नस्यात्, इयंबुद्धि गोबुद्ध्योश्चापर्यायत्वं जाति व्यक्त्योर्भेदमापादयति सर्वथा अभेदे घट कलशयोरिव पर्यायत्वं स्यादिति प्रतीतिबलादेव जातिव्यक्त्योः किंवा व्यक्तितो जातेर्भिन्नाभिन्नत्वं सिद्धमिति नैकत्र भेदाभेदयोर्विरोधइत्यर्थः॥

[इति शास्त्रदीपिका प्रकाश व्याख्यायां सुदर्शनाचार्यः]

प्रतीतिः । इयंगौरितिबुद्धिर्द्वयमपर्यायेण प्रति भासमान मेकं वस्तु द्व्यात्मकं व्यवस्थापयति सामानाधिकरण्यं ह्यभेदमापादयति अपर्यायत्वंच भेदं अतः प्रतीति बलादविरोधः"]

(शा० दी० पृष्ठ ३६३-६४)

भावार्थ—(शंका) अवयव अवयवी, द्रव्यगुण और जाति व्यक्ति आदि को भिन्नाभिन्न उभयरूप मानना किसी प्रकार भी युक्ति युक्त नहीं क्योंकि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरोधी हैं इन दोनों का एक स्थान में रहना असंभव है जहाँ पर भेद है वहाँ अभेद नहीं रह सकता एवं जिस स्थान में अभेद की स्थिति होगी वहां पर भेद नहीं ठहर सकता इसलिये द्रव्य गुण और जाति व्यक्ति आदि को परस्पर में या तो सर्वथा भिन्न ही मानना चाहिये या अभिन्न दोनों रूप में—भेदाभेद रूप में-स्वीकार करना किसी प्रकार भी युक्त नहीं है। (समाधान) यह कथन ठीक नहीं है। जाति व्यक्ति आदि के भेदाभेद विषय में इस प्रकार का विचार रखना अनुचित है क्योंकि भेद और अभेद आपस में विरोधी नहीं हैं जिनका परस्पर में विरोध होता है वे ही एक स्थान में नहीं रह सकते परन्तु भेदाभेद दोनों एक स्थान में रहते हैं इसलिये ये आपस में विरोधी नहीं। जाति, व्यक्ति और कार्य कारण आदि में भेदाभेद का साथ २ रहना असंदिग्ध रूप से प्रतीत होता है। जैसे "इदंरजतं नेदंरजतं"। "यह चांदी है यह चांदी नहीं" इस वाक्य में पारस्परिक विरोध दिखाई देता है उसी प्रकार यदि भेदाभेद में हो तबतो इनको विरोधी

समझा जाय परन्तु ऐसा नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जहां पर एक दूसरे का जो उपमर्दक हो—विनाशक हो—वहांपर ही उनका विरोध होता है [जैसे प्रकाश, अन्धकार का विरोधी है] यथा "इदंरजतं नेदंरजतं" इस स्थल में विरोध देखा जाता है। परन्तु भेदाभेद में ऐसा नहीं, भेदाभेद तो एक दूसरे की अनुकूलता को लिये हुए है अर्थात् भेदाभेद दोनों सहचारी हैं। विरोध तो इनका तब समझा जाय जबकि इनकी सहचारिता न हो जिनका परस्पर में सहचार देखा जाय उनको विरोधी कदापि नहीं कहा जा सकता भेदाभेद में कथन मात्र के लिये शाब्दिक विरोध भले ही प्रतीत होता हो मगर आर्थिक विरोध इनमें बिलकुल नहीं है। जाति व्यक्ति के भेदाभेद विषय में एक उदाहरण लीजिये ? "इयंगौ" (यह गौ है) इस वाक्य से जो शाब्दबोध—ज्ञान—उत्पन्न होता है उसके दो विषय हैं एक "बिशेष" और दूसरा "सामान्य" "इयं" से तो गोव्यक्ति विशेष का बोध होता है और "गौः" इससे गो सामान्य का भान होता है। इससे प्रतीत हुआ कि वस्तु-पदार्थ-सामान्य अथच विशेष उभय रूप है तब, "इयंगौ" यह जो सामानाधिकरण्य समानाश्रयत्व—रूप की प्रतीति है उससे तो जाति व्यक्ति के अभेद का बोध होता है—अन्यथा घट और पट की तरह जाति व्यक्ति का भी सामानाधिकरण्य नहीं बनेगा। और "इयं" तथा "गौः" इन दो शब्दों से क्रमशः गोव्यक्ति विशेष और गो सामान्य का जो भिन्न २ रूप से बोध होता है उससे जाति व्यक्ति का परस्पर भेद सिद्ध होता है। यदि दोनों को—जातिव्यक्ति को—सर्वथा अभिन्नही स्वीकार किया जाय तब तो घट कलश शब्द की भांति जाति व्यक्ति शब्द भी पर्याय

वाची हो जावेंगे। अर्थात् जिस प्रकार घट शब्द से कलश और कलश शब्द से घट का ग्रहण होता है उसी प्रकार जाति से व्यक्ति और व्यक्ति से जाति का बोध होना चाहिये परन्तु होता नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि जाति व्यक्ति आदि का परस्पर में भेद और अभेद दोनों ही प्रतीतिसिद्ध अतएव प्रामाणिक हैं इनका परस्पर में कोई विरोध नहीं।

[विरोध परिहार का दूसरा प्रकार]

जाति व्यक्ति और कारण कार्य आदि के भेदाभेद की एकत्रावस्थिति में जो विरोध की आशंका की जाती है उसके निराकरण में पार्थसार मिश्र, एक और युक्ति देते हैं। आप कहते हैं—

× **अपेक्षाभेदाच्च, तथाहि गोरूपेण निरूप्य माणया जात्या व्यक्तिरभेदेन प्रतीयते "गौरयं**

× भेदाभेदयोर्विरोधाभावे हेत्वन्तरमाह-अपेक्षाभेदादिति, निरूपक भेदादिति यावत्। यद्येकेनैव रूपेण भेदाभेदौस्यातां तदाविरोधः स्यादपि नैवमस्ति किंतु केनचिद्रूपेण भेदः केन चिद्रूपेणा भेद इति न विरोधः। यथा यज्ञदत्तस्य देवदत्तापेक्षया ह्रस्वत्वेपि विष्णुदत्तापेक्षया दीर्घत्व मपीति पस्पर विरुद्धयोरपि ह्रस्वत्व दीर्घत्वयोरेकत्र यज्ञदत्ते, न विरोध स्तथाऽत्रापि द्रष्टव्यम्। उपपादयति तथाहीति। गोरूपेण तद्व्यक्ति रूपेण निरूप्यमाणा या जाति स्तयासहतद्व्यक्तेरभेदएव प्रतीयते यथा "अयंगौः शावलेयः" अत्र गोपद वाच्य जाति मुद्दिश्य शावलेयत्व विधानाद् योगौःस शावलेय इत्यभेद एवावभासते। व्यक्त्यन्तर रूपेण निरूप्यमाणात्तु या जाति स्तयासह व्यक्तेः

शावलेय'' इति यदा तु जातिर्व्यक्त्यन्तरात्मना निरूप्यते तदेयं व्यक्ति स्ततो भिन्नरूपाऽवसीयते योऽसौ वाहुलेयोगौः सोयं शावलेयोनभवति।

(पृष्ठ० ३६४)

भावार्थ—अपेक्षा भेद से जाति व्यक्ति के भेदाभेद में कोई विरोध नहीं। यदि एक ही रूप से जाति व्यक्ति में भेदाभेद को स्वीकार करें तभी यहां विरोध की आशंका उपस्थित की जासकती है परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है वास्तव में तो भेद किसी और रूप से है तथा अभेद किसी अन्य रूप से है। ह्रस्वत्व और दीर्घत्व ये दोनों ही धर्म आपस में विरोधी हैं परन्तु अपेक्षा भेद से ये दोनों जैसे एक स्थान में रहते हैं उसी प्रकार अपेक्षा भेद से भेदाभेद की भी एकत्र स्थिति हो सकती है। जैसे "यज्ञदत्त छोटा भी और बड़ा भी है" इस स्थल में देवदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त में ह्रस्वत्व–छोटापन–और विष्णुदत्त की अपेक्षा दीर्घत्व–बड़ापन–देखा जाता है अर्थात् एक ही यज्ञदत्त व्यक्ति में ह्रस्वत्व, दीर्घत्व ये दोनों धर्म जैसे अपेक्षा भेद से विद्यमान हैं ऐसे ही जाति व्यक्ति में भी अपेक्षा भेद से

भेंद एवावभासते। यथा यौऽसौशाबलेयोगौः सवाहुलेयो न भवति–अत्र गोपद वाच्य जातेः शावलेय व्यक्ति रूपेण निरूपणात् शावलेय वाहुलेय व्यक्त्योश्चपरस्परं भेदाज्जाति व्यक्त्योर्भेद एवावभासते इत्याह यदेति। ततः व्यक्त्यन्तर रूपेण निरूप्यमाणा जातितः। एवंच जातिव्यक्त्योर्भेदाभेदौ सप्रामाणकावेवेति भावः—[टीकाकारः]

भेदाभेद की स्थिति निर्विवाद है। जहां पर गो–व्यक्ति विशेष–रूप से जाति का निरूपण किया जाता है। ["गारयं शाबलेय:" यह शबल–श्वेत चित्र–कर्बुरी–गाय है] वहां पर तो जाति के साथ व्यक्ति का अभेद है और जहां पर व्यक्त्यन्तर रूप से जाति का निरूपण हो ["योऽसौशाबलेयोगौः सवाहुलेयो न भवति"— यह शबल गाय कृष्ण नहीं है—] वहां पर शबल और बहुल–श्वेत और कृष्ण–का परस्पर में भेद होने से जाति का व्यक्ति से भेद है। इसलिये निरूपक भेद के कारण जाति व्यक्ति को भिन्ना-भिन्न मानने में विरोध मूलक कोई भी आपत्ति नहीं। तद् व्यक्ति रूप से अभेद, और व्यक्त्यन्तर रूप से भेद। अतः अपेक्षा भेद से, भेदाभेद उभय की एकत्र स्थिति निर्विवाद सिद्ध है।

[धर्म धर्मी आदि का भेदाभेद]

जाति व्यक्ति के भेदाभेद का उपपादन करने के अनन्तर पार्थसार मिश्र ने धर्म धर्मी के भेदाभेद का भी सप्रमाण उप-पादन किया है। यथा—

*** धर्मिणो द्रव्यस्य रसादि धर्मान्तर रूपेण रूपादिभ्योभेदो द्रव्यरूपेण चा भेदः। तथाऽवय-विनः स्वरूपेणा वयवैर भेदोऽवयवान्तर रूपेण त्व**

---

*यत्रहि मधुर मिदंद्रव्य मित्येवं द्रव्यस्य मधुरत्वेन रूपेण निरूपणं क्रियते तत्र रूपरसयोः परस्परं भेदान्मधुरत्वेन निरूप्यमाणस्य द्रव्यस्यापि

वयवान्तरैर्भेदइत्यूहनीयम् । तत्र यथा दीर्घ ह्रस्वा दीनां विरुद्धस्वभाना मप्यपेक्षाभेदा देकत्राप्यविरुद्धत्वं प्रतीतिबलादंगीक्रियते तथा भेदाभेदयोरपि द्रष्टव्यम् प्रतीत्य विशेषात् ।

[शा० दी० पृ० ३६५]

अर्थात्—जाति व्यक्ति की तरह, द्रव्य गुण—धर्मधर्मी—अवयव और अवयवी भी परस्पर भिन्नाभिन्न ही हैं । द्रव्य रूप धर्मी का रसादि रूप धर्मों की अपेक्षा रूपादिकों के साथ भेद और स्वरूप—द्रव्य—की अपेक्षा अभेद है । इसी प्रकार स्वरूप की अपेक्षा अवयवों से अवयवीअ भिन्न और अवयवान्तर की अपेक्षा से भिन्न, अतः भिन्नाभिन्न उभयरूप है ।

रूपादिभ्यो भेदोवभासते, यत्र चाभ्यर्हामिदं द्रव्यत्वेनैव रूपेण निरूपणं क्रियते तत्ररूपादिभ्योऽभेदोप्यवभासते केनापि गुणेन सामानाधिकरण्या भावादित्यर्थः । एवमेवावयवाऽवयविनोरपि भेदाभेदावेवेत्याह तथेति—यथा वन मित्युक्तेऽवयविनो वनस्य स्वरूपेण स्वावयवैः सर्वैरप्याम्रकदम्बप्लक्षादिभिरभेदोऽवभासतेऽवयविनोऽवयवसमूहरूपत्वात । अवयवानांच परस्परं भेदा दवयवान्तररूपेण निरूपणेतु तद् भिन्नावयवैः सहावयविनो भेदोऽवभासते यथाऽऽम्रवणमित्युक्ते ऽवयविनो वनस्याम्ररूपेणनिरूपणात् प्लक्षादिभिर्भेदएव प्रतीयते । विरुद्धयोरपि धर्मयो रेकत्र प्रतीतावपेक्षा भेदा द्विरोधाभावे उदाहरणमाह—तत्रयथेति यथाह्रस्वत्व दीर्घत्वयोः परस्परं विरोधेऽप्यपेक्षा भेदा देकत्र प्रतीतिर्भवति तथा भेदाभेदयोरप्यपेक्षा भेदादेकत्र प्रतीतिर्भवत्येवेति न कोपि विरोध इत्याह प्रतीत्य विशेषादिति । [व्याख्या]

जिस प्रकार विरुद्ध स्वभाव रखने वाले ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि धर्मों की, अपेक्षा भेद से अविरोधतया एक जगह पर स्थिति मानी जा सकती है। एवं प्रतीति बल से उनका एक स्थान पर रहना स्वीकार किया जाता है। उसी तरह अपेक्षा भेद से भेदाभेद की एकत्र स्थिति मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि प्रतीति की दोनों स्थानों में समानता है।

[आक्षेपान्तर का समाधान]

जाति व्यक्ति आदि पदार्थों को, भिन्नाभिन्न, एकानेक और नित्यानित्य मान कर अनेकान्तवाद का समर्थन करते हुए पार्थ-सार मिश्र ने एकान्तवादी लोगों के एक और गुरुतर आक्षेप का समाधान किया है। जिस लेख में उक्त विषय की चर्चा की है वह लेख अन्य लेखों की अपेक्षा, अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर कुछ और भी अधिक प्रकाश डालता है जाति व्यक्ति आदि पदार्थों को एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न एक या अनेक, नित्य अथवा अनित्य ही मानने वाले अन्य दार्शनिक विद्वानों के द्वारा पदार्थों की अनेकान्तता पर किये गये आक्षेपों का उल्लेख और समाधान करते हुए मिश्र महोदय इस प्रकार लिखते हैं—

["नन्वनुवृत्ता नित्याऽनुत्पत्ति विनाशधर्मा-चजातिः, विपरीतस्वभावा च व्यक्तिः कथं तयोरैक्यम्? नह्येकमेववस्तु-अनुवृत्तं व्यावृत्तं नित्य मनित्य मुत्पत्ति विनाशधर्मक मतद्धर्मकं च संभ-

वति, त्रैलोक्यसंकर प्रसंगात्, जातिरप्येव मनित्य धर्मा स्यात् व्यक्तिरपि नित्यत्वादि धर्मो। नैषदोषः नानाकारं हि तद्वस्तु केनचिदाकारेण नित्यत्वादिकं केनचिच्चाऽनित्यत्वादिकं बिभ्रन्न विरोत्स्यते। जातिरपि व्यक्तिरूपेणानित्या व्यक्तिरपि जात्यात्मना नित्येति नात्रकाचिदनिष्ठापत्तिः"]

[शा. दी. पृ. १६६]+

शंका—जाति व्यक्ति को एक अथवा अभिन्न स्वीकार करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि जाति, व्यक्ति आपस में सर्वथा विभिन्न स्वभाव रखने वाले पदार्थ हैं। जाति अनुगत–सामान्य–व्यापक स्वरूप, और व्यक्ति-व्यावृत्ति–विशेष–व्याप्यरूप है। जाति नित्य है व्यक्ति, अनित्य, तथा जाति उत्पत्ति विनाश से रहित और व्यक्ति-उत्पत्ति विनाश वाली है अतः ये दोनों पदार्थ एक अथवा अभिन्न नहीं माने जा सकते। संसार में ऐसा कभी नहीं देखा गया कि एक ही वस्तु सामान्यरूप भी हो और विशेषरूप भी, नित्य भी हो और अनित्य भी तथा उत्पत्ति विनाश से रहित भी हो और उत्पत्ति

(+) आकार भेदेनै कत्रापि विरुद्ध धर्म समावेशे नास्ति विरोधः। यथै कत्रैव देवदत्ते यज्ञदत्त निरूपितं पितृत्वं विष्णुदत्त निरूपितं च पुत्रत्वं, यथा चैकत्रैवघटेऽवयवात्मनाऽनेकत्व मवयव्यात्मना चैकत्वं तथेत्यर्थः। यथा-कार्यमपि कारणात्मना सद्भवति कारणमपि कार्यात्मनाऽसत्तथाऽत्रापिज्ञेयमिति (टीकायां सुदर्शनाचार्यैः)

विनाश वाली भी हो। यह कभी नहीं हो सकता कि परस्पर विरोधी धर्म भी एक स्थान में रह सकें यदि ऐसा ही है तब तो वन्हि में भी शीतता की प्रतीति होनी चाहिये इस प्रकार तो विश्व भर के पदार्थों में संकरता का प्रसार होजायगा (×)

जाति भी अनित्य और विनाशी हो जायगी तथा व्यक्ति भी नित्य एवं अविनाशी ठहरेगी। इसलिये परस्पर विरुद्ध स्वभाव रखने वाले पदार्थों का अभेद मानना कदापि युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार जाति व्यक्ति को सर्वथा विभिन्न मानने वालों के इस गुरुतर आक्षेप का समाधान करते हुए पार्थसार मिश्र कहते हैं हमारे मत में इस प्रकार का कोई भी दोष उपस्थित नहीं किया जा सकता। यथार्थ में तो वस्तु में वस्तुत्व ही यह है कि वह अनेक विध आकारों को धारण किये हुए हो। अथवा यूं कहिये कि संसार की सभी वस्तुएं अनेक विध आकारों को धारण कर रही हैं + । अनेक विध आकार—स्वरूप—धर्म की अधिकरणता ही वस्तु में वस्तुत्व है। अतः वस्तु, किसी आकार स्वरूप से नित्य और किसी आकार से अनित्यत्वादि धर्मों को धारण कर रही है इसलिये विरोध की कोई आशंका नहीं है। अतएव आकार—[स्वरूप—अपेक्षा] भेद से विरुद्ध

(×) यद्येकत्र वस्तुनि विरुद्ध धर्म समावेशः स्यात्तदा वन्हौ शैत्यमपिस्यादित्येवं त्रैलोक्य संकरःस्यात्। (टीकायां सुदर्शनाचार्यः)

+—यद्वस्तु नानाकारं तद्वस्तु, किं वा तद्वस्तु सांसारिकंवस्तु (टीका)

स्वभावि धर्मों का एक स्थान में समावेश सुकर है। जैसे एक ही देवदत्त व्यक्ति में अपेक्षा भेद से पितृत्त्व और पुत्रत्त्व ये दोनों विरोधी धर्म सुगमतया रह सकते हैं— [यज्ञदत्त की अपेक्षा उसमें पितृत्त्व और विष्णुदत्त की अपेक्षा पुत्रत्त्व है–]–तथा जैसे एकही घट पदार्थ में अवयवों की अपेक्षा अनेकत्व और अवयवी की अपेक्षा से एकत्व इन दो विरोधी धर्मों का समावेश देखा जाता है उसी प्रकार जाति व्यक्ति में भी अपेक्षा भेद से नित्यानित्यत्त्व आदि धर्मों की सत्ता मौजूद है। जाति भी व्यक्ति रूप से अनित्य और विनाशी कही जा सकती है एवं व्यक्ति भी जाति रूप से नित्य और अविनाशी मानी जा सकती है। इसी तरह कार्य भी कारण रूप से सत् और कारण, कार्य रूप से असत् कहा जा सकता है। इसमें अनिष्ट की कोई आशंका नहीं। इसके अतिरिक्त, जाति व्यक्ति आदि में अभेद की तरह भेद भी विद्यमान है तथा नित्यानित्य की भांति उसमें व्यापकत्व और अव्यापकत्व भी समझ लेना चाहिये×। अर्थात् जैसे उसमें–जाति व्यक्ति में–अपेक्षा भेद से नित्यानित्यत्वादि धर्मों की स्थिति निर्धारित होती है उसी प्रकार जाति रूप से व्यक्ति भी व्यापक और व्यक्ति रूप से जाति भी व्याप्य है।

महामति कुमारिल और पार्थसार मिश्र के लेखों से एक ही वस्तु नित्यानित्य, भिन्नाभिन्न, एक और अनेक किस प्रकार कही

× —अभेदेपि जाति व्यक्त्योर्भेदस्यापि विद्यमानत्वात्। नित्यानित्यत्वादिवत् सर्वगतत्वा सर्वगतत्व मपिनानुपपन्नम् (शा० दी० पृ० ४०२)

अथवा मानी जा सकती है इस बात पर तथा एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों की स्थिति को स्वाभाविक और नियम सिद्ध बतलाने वाले अपेक्षावाद के सिद्धान्त पर जो प्रकाश पड़ता है उससे जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का महत्त्व भली भांति विदित हो जाता है। इसी खयाल से जैन विद्वानों ने अनेकान्तवाद को सर्व दर्शन सम्मत कहा है * और प्रत्येक दर्शन में उसके बीज को माना है।

[वैशेषिक दर्शन]

अनेकान्तवाद का कुछ उल्लेख वैशेषिक दर्शन में भी पाया आता है यह कथन ऊपर आचुका है कि जैन दर्शन किसी भी वस्तु को एकान्ततया सामान्य अथवा विशेषरूप से नहीं मानता किन्तु सामान्य विशेष उभयरूप से ही स्वीकार करता है इस सिद्धान्त को, महर्षि कणाद ने सर्वथा तो नहीं अपनाया परन्तु अपनाया अवश्य है। तथा किसी स्थान पर तो इसे पूर्णतया स्वीकार किया है जैसे उन्होंने सामान्य और विशेष नाम के दो स्वतंत्र पदार्थ माने हैं उनमें सामान्य के "पर" और "अपर" ऐसे

---

*—सकल दर्शनसमूहात्मक स्याद्वाद समाश्रयण मतिरमणीम्

(हेमचन्द्राचार्य—सिद्धहेम व्याकरणे-सिद्धिःस्याद्वादादिति सूत्रे)

नवाणाभिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया।

प्रतिक्षिपेयुर्नोवेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम् ॥

नय उ० यशोवि० उ०

दो भेद करके परको "सत्ता" अपर को "सामान्य" के नाम से उल्लेख किया है। तथा सत्ता को तो उन्होंने केवल सामान्य-रूप से ही स्वीकार किया है और अपर सामान्य को, सामान्य विशेष उभयरूप से माना है।

[द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ।
(वै. सू. अ. १ आ. २ सू. ५)

प्रशस्तपादभाष्य—सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्ति प्रत्ययकारणं, तत्रपरं सत्ता महाविषयत्वात् साचानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वाद्यपरमल्प विषयत्वात् तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते।

इस लेख से सिद्ध हुआ कि सामान्य, केवल सामान्य रूप ही नहीं किन्तु विशेष रूप भी है। द्रव्यत्व, गुणत्वादि रूप सामान्य में, सत्ता की अपेक्षा विशेषत्व और पृथिवीत्वादि की अपेक्षा से सामान्यत्व ये दोनों ही विभिन्न धर्म रहते हैं। इस बात को वैशेषिक दर्शन में और भी स्पष्ट कर दिया है।

सामान्यं विशेष इति बुद्धयपेक्षम्। [अ० ६ आ० २ सू० ३]

भाष्यम्—द्रव्यत्वं, पृथिवीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षायाच विशेष इति।

अर्थात्—द्रव्यत्व, पृथिवीत्व की अपेक्षा सामान्य और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। अतएव सामान्य विशेष उभय रूप है। उपस्कार के कर्त्ता शंकर मिश्र ने भी उपस्कार में

इसी बात का उल्लेख किया है × इसलिये वस्तु (पृथिवीत्वादि) केवल सामान्य अथवा विशेष रूप ही है ऐसा एकान्त नियम नहीं किन्तु सामान्य रूप होकर विशेष रूप भी है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये कणाद ऋषि ने भी अनेकान्तवाद का अनुसरण किया ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। अधिक विवेचन की आवश्यकता नही।

[पदार्थ में सत्वासत्व]

कोई भी पदार्थ एकान्त रूप से सत् अथवा असत् नहीं वह जैसे सत् है वैसे असत् भी है ऐसा जैन दर्शन का मंतव्य है* वह पदार्थ में सत्व और असत्व इन दोनों ही धर्मों की सत्ता को मानता है। उसके मत में घट सत् भी है और

×—परमपिसामान्यमपरमपितथा। परन्तु सामान्यं विशेषसंज्ञा मपिलभते यथा द्रव्य मिदमित्यनुवृत्तिप्रत्ययेसत्ययेव नायंगुणो नेदंकर्मेतिविशेष प्रत्ययः तथाच द्रव्यत्वादीनां सामान्यानामेवविशेषत्वम्। (वै० द० गुजराति प्रेस पृ० ५२)

भाष्यम्—द्रव्यत्वं पृथिवीत्वापेक्षया सामान्यं, सत्तापेक्षया विशेष इति (पृ० ५३)

१ *—(क)—सदसद्रूपस्य वस्तुनो व्यवस्थापितत्वात [पृ० ६३]

(ख)—यतस्ततः स्वद्रव्यक्षेत्रकाल भाव रूपेणसद्वर्तते पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूपेणासत् ततश्च सच्चासच्चभवति अन्यथा तदभाव प्रसंगात्।(पृ० ४)
[अनेकान्त जयपताकायां हरि भद्रसूरिः]

असत् भी, अथवा यूं कहिये कि घट में जैसे सत्व मौजूद है वैसे असत्व भी विद्यमान है। यद्यपि उपराउपरि देखने से तो यह बात कुछ विलक्षण और संदिग्ध सी प्रतीत होती है परन्तु जरा ठंडे दिल से इस पर कुछ विचार किया जाय तो यह सिद्धान्त बड़ा ही सुव्यवस्थित और वस्तु स्वरूप के सर्वथा अनुकूल प्रतीत होगा। घट है और नहीं इसका यह तात्पर्य नहीं कि घट जिस रूप से है उसी रूप से नहीं, किंतु इसका अर्थ यह है कि घट अपने स्वरूप की अपेक्षा तो 'है' और पर रूप की अपेक्षा से 'नहीं' अतः स्वरूप की अपेक्षा आस्तित्व और पर रूप की अपेक्षा नास्तित्व एवं अस्तित्व नास्तित्व ये दोनों ही धर्म, पदार्थ में अपनी सत्ता का प्रामाणिक रूप से भान कराते हुए घटादि पदार्थ को सदसत् उभय रूप सिद्ध कर रहे हैं। यदि घट को स्वरूप की तरह पर रूप से भी सत् मान लिया जाय तब तो वह पट रूप से भी सत् ही ठहरेगा इस प्रकार वस्तु का जो प्रति नियत स्वरूप है वह बिगड़ जायगा और घट पट में जो भेद दृष्टिगोचर होता है उसका उच्छेद ही हो जावेगा इसलिये स्वरूप की अपेक्षा सत् और पर

(ग) तथैकान्तसत्वमेकान्तासत्वं च वार्तमेव तथाहि सर्वभावानांहि सदसदात्मकत्व मेव स्वरूपम्। एकान्तसत्वे वस्तुनो वैरूप्यंस्यात्। एकान्तासत्वे च निस्स्वभावता भावानां स्यात्। तस्मात्स्वरूपेण सत्वात् पर रूपेण चासत्वात् सदसदात्मकं वस्तु सिद्धम् यदाहुः—

सर्व मस्तिस्वरूपेण पररूपेण नास्तिच।
अन्यथा सर्व सत्वंस्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः॥

(हरिभद्रसूरि कृत षड् दर्शन समुच्चय टीकायां मणिभद्रः)

रूप की अपेक्षा असत् एवं सदसत् उभयरूप रूप से ही पदार्थ का निर्वचन करना युक्ति युक्त है ऐसा जैन विद्वानों का कहना और मानना है।

वस्तु के सदसत् स्वरूप विषय में जो विचार ऊपर प्रदर्शित किये गये हैं उनका कुछ उल्लेख अन्योन्याभाव के निरूपण में महर्षि कणाद और उनके अनुयायी अन्य विद्वानों ने भी किया है। तथाहि—

(१) सच्चा सत् (२) यच्चान्यदसदतस्तदसत्।

[वै० द० अ० ६ आ० १ सू० ४-५]

उपस्कार—प्रागभाव प्रध्वंसौ साधयित्वाऽऽन्योन्याभावं साधयितु माह-सच्चासदिति। यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवतिहि असन्नश्वो गवात्मना, असन् गौरश्वात्मना, असन् पटो घटात्मना इत्यादिः। [पृ० ३१३]

भाष्यम्—तदेवं रूपान्तरेणसदप्यन्येन रूपेणासद् भवतीत्युक्तम्..
अश्वात्मना सन्नप्यश्वो न गवात्मनास्तीति" [पृ ३१५]

ऊपर दिये गये सूत्रों का, शंकर मिश्र के उपस्कार और भाष्य को लेकर प्रकृतोपयोगी इतना ही तात्पर्य है कि घट अपने निजी स्वरूप से तो है और पट रूप से नहीं। अश्व, अपने स्वरूप से सत् और गो रूप से असत् है तब इस कथन का अभिप्राय यही निकला कि घटादि पदार्थों में अपने स्वरूप की

अपेक्षा सत्व और पर घटादि-रूप की अपेक्षा से असत्व है इससे अर्थात् सिद्ध हुआ कि इनमें–घटादि पदार्थों में–स्वरूप और पर रूप से सत्वा सत्व दोनों ही रहते हैं।

[न्याय दर्शन का वात्स्यायन भाष्य]

महर्षि गौतम प्रणीत न्याय दर्शन के सुप्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने भी पदार्थ विवेचना के लिये एक दो स्थानों पर अनेकान्तवाद का अनुसरण किया है ऐसा प्रतीत होता है। पाठक उनके लेख को भी देखें ?

"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः"

(१-१-४१) इस सूत्र के भाष्य में आप लिखते हैं—

"एतच्च विरुद्धयो रेक धर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौधर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः। इत्यादि"

भावार्थ—पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा विचार करके पदार्थ का जो निश्चय किया जाता है उसे निर्णय कहते हैं। परन्तु यह विचार किसी एक धर्मी में स्थित विरुद्ध धर्मों के विषय में ही है जहाँ पर धर्मी सामान्य में विरुद्ध धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो वहाँ पर तो समुच्चय ही मानना चाहिये क्योंकि प्रामाणिक रूप से ऐसा ही सिद्ध है। अर्थात् वहाँ पर परस्पर विरुद्ध दोनों ही धर्मों को स्वीकार करना चाहिये।

इससे प्रतीत हुआ कि वात्स्यायन मुनि को परस्पर विरुद्ध धर्मों की एकत्रावास्थिति में वहां पर ही आपत्ति है जहां पर कि कोई प्रमाण-युक्ति न हो और जहाँ पर प्रमाण है वहाँ पर विरोधि धर्मों की एक स्थान में स्थिति मानने में उनको कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

इसके सिवाय " **समानप्रसवात्मिका जातिः** " [२-२-६६] इस सूत्र के भाष्य में जाति का लक्षण करते हुये आप लिखते हैं—

या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरतो न व्यावर्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्। यच्च केषांचिदभेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्य विशेषो जातिरिति।

भावार्थ—"जाति केवल सामान्य रूप भी है और सामान्य विशेष उभय रूप भी है" द्रव्यों के आपस में भेद रहते हुये जो सामान बुद्धि को उत्पन्न करे [इत्यादि लक्षणों वाली] वह केवल सामान्य जाति है और जो किन्ही का तो आपस में अभेद, और किसी के साथ भेद को साबित करे वह सामान्य विशेष उभयरूप जाति है।

एक ही जाति पदार्थ को, केवल सामान्य, और सामान्य अथच विशेष उभयरूप रूप स्वीकार करना अनेकान्तानुसरण नहीं तो और क्या है?

[न्यायदर्शन की वैदिकवृत्ति]

महर्षि गौतम रचित न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन भाष्य के अतिरिक्त न्यायवार्तिक, तात्पर्य टीका, तात्पर्य परिशुद्धि, जयन्त वृत्ति और न्याय वृत्ति आदि कई एक प्राचीन व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं तथा अर्वाचीन कतिपय विद्वानों ने भी संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में उक्त दर्शन पर अनेक प्रकार के व्याख्या ग्रन्थ लिखे हैं और वे उपलब्ध भी होते हैं। उनमें से प्रस्तुत विचार के लिये हमारे सामने इस समय वैदिकमुनि स्वामि हरि प्रसाद जी उदासीन की लिखी हुई "वैदिक वृत्ति" उपस्थित है। वृत्ति क्या है न्याय शूत्रों पर एक खासा भाष्य है। हरिप्रसाद जी ने केवल न्याय दर्शन को ही नहीं किंतु सांख्य, योग और वैशेषिक आदि सभी दर्शनों को अपनी वैदिक वृतियों से अलंकृत करके उनकी सौभाग्य श्री को दोवाला कर दिया है ! तदनुसार आपने ऋषि व्यासदेव प्रणीत ब्रह्मसूत्रों पर भी अपनी वैदिक वृत्ति द्वारा बड़ा अनुग्रह किया है अर्थात् अन्य दर्शनों की भांति उन पर भी आपने एक सर्वाङ्ग सुन्दर वैदिक वृत्ति नाम का भाष्य लिखा है।

नोट—स्वामि हरिप्रसाद जी अभी विद्यमान हैं वर्तमान आर्य समाज के साधु संन्यासियों में आप आदरणीय हैं परन्तु कई बातों में वर्तमान आर्यसमाज से आपका मतभेद भी है। आप मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति नहीं मानते। कहीं कहीं पर तो आपने आर्यसमाज के जन्मदाता स्वामि दयानन्द सरस्वती की बातों को स्पष्ट शब्दों में प्रमाण विरुद्ध बतलाया है।

(देखो आपका लिखा हुआ वैदिक सर्वस्व पृ० ४ से लेकर)

उक्त वृत्ति में "नैकस्मिन्न सम्भवात्" [२।२।३३] इस सूत्र को आगे रख कर आपने जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की खूब ही खबर ली है। अनेकान्तवाद के खंडन में आप आचार्य प्रवर शंकर स्वामी से भी दो क़दम आगे बढ़ गये हैं। आपका कथन है कि दो विरोधी धर्म एक स्थान पर किसी प्रकार से भी नहीं रह सकते। जो सत् है वह असत् कभी नहीं कहा जा सकता तथा जो असत् है उसे सत् नहीं कह सकते। एक ही वस्तु में सत्व और असत्व उभय को मानना निस्सन्देह अज्ञानता है। इसलिये यह सिद्धान्त किसी प्रकार भी विश्वास करने योग्य नहीं इत्यादि। परन्तु जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का वास्तविक स्वरूप क्या है, वस्तु के स्वरूप को उसने किस प्रकार का माना है, परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता को वह एक वस्तु में किस रूप से मानता है और उसके इस मन्तव्य का अन्यान्य दार्शनिक विद्वानों ने किस सीमा तक प्रतिपादन और समर्थन किया है, इत्यादि बातों का कुछ तो ज़िकर हम ऊपर कर आये हैं और कुछ प्रकाश इस विषय पर आगे चलकर और भी डालेंगे। परन्तु वैदिक मुनि जी भी उक्त सिद्धान्त के आगे किस प्रकार से नत मस्तक हुए हैं अर्थात् एक ही वस्तु को सदसत् उभय रूप से उन्होंने स्वयं किन ज़ोरदार शब्दों में स्वीकार किया है उसका परिचय हम पाठकों को कराते हैं। आपका वह लेख इस प्रकार है—

ननु कर्मणा यदिदं फलं निष्पद्यते तत्किं निष्पत्तेः प्रागसद् वर्त्तते किं वाऽसदिति जिज्ञासायां पूर्वं तावत् पूर्वपक्ष माह।

(१) "*नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात्*" [४।१।४८]

प्राङ् निष्पत्ते रित्यनुवर्तते। फलमिति प्रकरणा ल्लभ्यते त च कार्य मात्रोपलक्षणं नासदिति प्रति-ज्ञायां "उपादाननियमात्" न सदिति प्रतिज्ञायां "उत्पत्त्यसम्भवात्" इति हेतु द्वयशेषः। असत्-निष्पत्तेः प्राक्फल मसत् नभवति कुतः उपादान नियमात्, कार्य विशेष निष्पत्त्यै कारण विशेषो पादनस्य नियमात्। सत्-निष्पत्तेः प्राक्फलं सत्न-न भवति कुतः? उत्पत्त्यसंभवात्-सत उत्पत्तेः संभवाभावात्। सदसत्-निष्पत्तेः प्राक् फलं सदसत् न-नभवति कुतः? सदसतोः सतोऽस तश्च द्वयोर्वैधर्म्यात्-विरुद्धधर्मकत्वात् मिथो विरोधादिति यावत् ॥४८॥

(२) सिद्धान्त माह—

"*उत्पाद व्यय दर्शनात्*" [अ० ४ आ० १ सू० ४६]

प्राङ् निष्पत्तेः सदसदिति चानुवर्तते फल संबंधः पूर्ववत् निष्पत्तेः प्राक् फलं कार्यं सदस दिति वेदितव्यम्। कुतः? उत्पादव्यय दर्शनात्। तदुत्पत्ति विनाशयो रुपलभ्यमानत्वात्। चेदुत्पत्तेः प्राक् कार्यमसद् भवेत्-न जातूत्पद्येत। असतः

शशश्रृंगादेरुत्पत्त्यदर्शनात् । सच्चेत् न कदाचिद्विनश्येत् । पुरस्तात् सतः पश्चादपि सत्व नियमेन विनाशासंभवात् । उत्पद्यते विनश्यति च कार्यम् तस्मात् भवति प्रतिपत्तिर्नूनमेतदुत्पत्तेः प्राक् नासदस्ति नापिसत् किंतु सदसदिति ॥४९॥

ननु सदसतोर्वैधर्म्यात् सह भावाऽसंभवः ? तत्राह

(३) "बुद्धि सिद्धं तु तदसत्" [अ० ४ आ० १ सू० ५०]

अबुद्धि सिद्धं तुना व्यवच्छिनत्ति । तदसत्-सदसतो यदसदित्युक्तं तदसत् । बुद्धि सिद्धं-बुद्धयासिद्धं बुद्धिसिद्धम् बुद्धि सहमिति यावत् परिगृहीतव्य मित्यर्थः उत्पत्तेः पूर्वं येन रूपेण कार्यं सद् वर्तते तेनैव रूपेण चेदसत् इति ब्रूयाम तदास्यात् विरोधात्तयोः सह भावासंभवः नच वयं तेनैव रूपेणासदिति ब्रूमः किंतु येन रूपेण सत् ततोरूपान्तरेणासदिति निगदामः । तच्च बुद्धिं सहते । कारण रूपेण सतः कार्य रूपेणासत्वस्यो-त्पत्तेः प्रागुपपन्नत्वात् । नह्युत्पत्तेः प्राक् कार्य रूपेणा-सत्वं बुद्ध्या न सिद्ध्यति न च बुद्ध्या सिद्धे विरोधः कथंचिदुपतिष्ठते तस्मादुत्पत्तेः प्राक् कार्यस्य सदसत्वे नास्ति सहभावासंभव इतिभावः ॥५०॥

भावार्थ—कर्म से जो फल उत्पन्न होता है वह उत्पत्ति से पूर्व सत् है किंवा असत् ? इस प्रश्न पर प्रथम पूर्व पक्ष रूप सूत्र का उल्लेख करते हैं "नासन्नसन्न" इत्यादि अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व फल कार्य न तो असत् है और न सत् नाहीं सत् असत्। "यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सर्वथा असत् रूप ही माना जाय तब तो तंतुओं से पट मृत्तिका से घट और तिलों से ही तेल आदि उत्पन्न होने का जो नियम देखा जाता है उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार असत् रूप पट तन्तुओं से, असत् रूप घट मृत्तिका से और असत् रूप तेल, तिलों से उत्पन्न होता है उसी प्रकार तन्तुओं से घट, मृत्तिका से पट और वालु-रेता-से तेल भी उत्पन्न होना चाहिये। क्योंकि जैसे तन्तुओं में पट, उत्पत्ति से पूर्व में सर्वथा नहीं है ऐसे मृत्तिका में भी नहीं है तथा जिस प्रकार तिलों में प्रथम, तेल का सर्वथा अभाव है ऐसे वालु आदि में भी उसका असत्व है फिर क्या कारण है जो कि तंतुओं से ही पट, मृत्तिका से ही घट और तिलों से ही तेल उत्पन्न होता है असत्व तो सब जगह पर समान ही है। और लोक में भी देखा जाता है कि जिसको तेल की आवश्यकता होती है वह तिलों को ही खरीदता है तथा जिसको घट बनाना आवश्यक होता है वह कुम्हार मृत्तिका और कपड़ा बनाने का अभिलाषी तंतुवाय-जुलाहा-सूत्र को ही ढूंढ़ता है यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य, सर्वथा असत् हो तब तो इस प्रकार का नियम नहीं रहना चाहिये इससे मालूम होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वथा असत् नहीं *। तथा सत् भी नहीं कह

---

* यह सब, मूल में दिये गये "उपादान नियात्" की व्याख्या है।

सकते क्योंकि यदि सत् रूप ही मान लिया जाय तब तो उसकी–कार्य की–उत्पत्ति ही नहीं बन सकती। जो सत् है वह उत्पन्न कभी नहीं होता। उत्पत्ति विनाश से रहित होना ही सत् का लक्षण है परन्तु कार्य को हम उत्पन्न होता देखते हैं अतः वह सत् भी नहीं। तथा सदसत् उभय रूप भी कार्य को नहीं कह सकते क्योंकि सत् असत् दोनों आपस में विरोधी हैं जहां पर एक की स्थिति हो वहां पर दूसरा नहीं रह सकता। इसलिये उत्पत्ति से पूर्व कार्य सदसत् उभय रूप भी नहीं है। इस पूर्व पक्ष का अब समाधान करते हैं।

(२) "*उत्पादव्यय दर्शनात्*" अर्थात् कार्य में उत्पत्ति और विनाश दोनों की उपलब्धि होती है इस लिये कार्य सत् और असत् उभय रूप है। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सर्वथा असत् माना जाय तब तो उसकी उत्पत्ति ही कदापि नहीं हो सकती जो सर्वथा असत् है वह उत्पन्न कभी नहीं हो सकता और न उत्पन्न होता देखा गया। शशश्रृङ्ग सर्वथा असत् है अतः उसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती। इसी प्रकार कार्य भी असत् रूप होने से कभी उत्पन्न नहीं होगा। एवं यदि उसको कार्य को–सर्वथा सत् ही मानें तो उसका विनाश कभी नहीं होगा जो उत्पत्ति से प्रथम सत् है वह बाद में भी सत् रूप ही रहेगा। परन्तु कार्य को तो हम देखते हैं कि वह उत्पन्न भी होता है और बिनष्ट भी इससे सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य न तो सर्वथा सत् है न असत् किन्तु सदसत् उभय रूप है।

(३) "विरोध परिहार" ऊपर कहा जा चुका है कि सत् असत् आपस में अत्यन्त विरोधी हैं इनकी एक स्थान में स्थिति

नहीं हो सकती फिर उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सदसत् उभय रूप कहना या मानना किस प्रकार उचित समझना चाहिये ? इस शंका के समाधानार्थ कहत हैं "*बुद्धिसिद्धं तु तदसत्*" अर्थात् कार्य को सदसत् उभय रूप स्वीकार करना बुद्धि सिद्ध अनुभव सिद्ध है। जो बात अनुभव सिद्ध हो उसके मानने में कोई आपत्ति नहीं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य जिस रूप से सत् है उसी रूप से यदि उसको असत् कहा जाय तब तो सत् असत् का एक स्थान में रहना न भी बन सके परन्तु हमारा मन्तव्य ऐसा नहीं है हम तो जिस रूप से कार्य को सत् कहते हैं उसी रूप से उसे असत् नहीं किन्तु रूपान्तर से असत् बतलाते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य, कारण-रूप से सत् और कार्यरूप से असत् है। क्या यह बात अनुभव सिद्ध नहीं ? क्या अनुभव सिद्ध का भी कभी अपलाप हो सकता है ? इसलिये उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सत् एवं असत् उभयरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं। कारण रूप से सत्व और कार्य रूप से असत्व एवं सत्वासत्व दोनों ही अपेक्षा भेद से उत्पत्ति से पूर्व कार्य में माने जा सकते हैं इसमें विरोध की कोई आशंका नहीं। इसके अतिरिक्त वेदान्त और वैशेषिक सूत्रों की वैदिक वृत्तियों में इस सिद्धान्त को और भी अधिक रूप से पुष्ट किया है ❋ वैदिक मुनि जी का उक्त लेख अनेकान्तवाद का

❋ (क)—नखल्वस्माभि रुत्पत्तेः प्राक् कार्यं सर्वथा कारणतोऽन्यदनन्यद्वाऽभ्युपगम्यते येन तत्र भवदुत्प्रेक्षिता दोषाः

कहां तक समर्थक है इस बात का अधिक जिकर करना अब हमारे ख्याल में अनावश्यक है पाठक स्वयमेव विचार करें कि उन्होंने एकही पदार्थ को अपेक्षा कृत भेद से किस प्रकार सदसत् उभयरूप स्वीकार किया है जैन दर्शन का अनेकान्तवाद भी तो इसी प्रकार (अपेक्षाकृत भेद– निरूपक भेद से) वस्तु में

प्रसज्येरन् किंतर्हि ? कार्यात्मना कारणतोऽन्यत् सत् कारणात्मनाऽन्यत् ।.................तदेतद्वयं श्रुतिवाक्यावष्टम्भेनाभ्युपगच्छामो न तर्कावष्टम्भेन । श्रुति वाक्यानि च सर्वस्यास्य कार्य वर्गस्य-प्रागुत्पत्तेः कार्यात्मना कारणतोऽन्यत्वं कारणात्मना चानन्यत्वं व्यक्त मवगमयन्ति । "*वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यं*" [छां० ६ । १ । ४] "*असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत्*" [३ । १९ । १] "*तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत*" [बृ० १ । ४ । ७] इत्यादीनि [वे०सू०वै०वृ०पृ० ३९६ । अ० २ पा० १ सू० १४]

(ख)—एवंहिवैदिकाः पश्यन्ति- कार्यं चेदुत्पत्तेः प्रागत्यन्तमसद्भवेत् तदा कारण व्यापारेणापि नोत्पद्येत् । नात्यन्ता सच्छशशृङ्गादयः कारणव्यापारेण कथंचिदुत्पत्तुं पारयन्ते । सच्चेत् कृतं तत्र कारणव्यापारेण । नहि सति कार्ये कारण व्यापारस्य कृत्यं किंचिद् विद्यते । तस्य पूर्व मेवसत्वात्। पुरस्तात् सतश्च परस्तादपि सत्व नियमेन विनाशोपिन स्यादित्यतः प्रागुत्पत्तेः कारणात्मना सद्भवदपि कार्यं कार्यात्मना भवत्यसदित्यभ्युपगन्तव्यम् ।.........................यच्चेदं घटपटादि

सत्वासत्व का अंगीकार करता है इस दशा में उसपर आक्षेप करना हमारे विचार में वृथा है। और सुप्रसिद्ध तार्किक रघुनाथ शिरोमणि ने तो यहां तक लिख दिया है कि "*यदि घटत्वेन पटो नास्तीति प्रत्ययः स्वरसवाही लोकानां तदा व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव वारणं गीर्वाण गुरोरप्यशक्यम्*" [चिन्तामणि व्याख्या दीधिति] अर्थात् घट रूप से पट नहीं यह प्रतीति यदि लोक में है तो व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रति योगिता का जो अभाव है [घटत्वेनपटोनास्ति-घटत्व रूप से पट

कार्यं कार्यात्मनाऽसद्भवद् कारणात्मना सदित्यभ्युद्यते तदेव कार्यात्मना कारणादन्यत् भवन् कारणात्मना ततोऽनन्यदिति प्रणिगद्यते। कार्यमात्रे चैष समानश्चर्चः। तथाच वैदिकाना मस्माकं कार्यात्मना कारणतोऽन्यद् भवदप्यस्ति प्रागुत्पत्तेः कारणात्मना तदनन्यदिदं पृथिव्यादिकं कार्यं जगदिति ज्ञातव्यम्।
(पृ० ३९७-९८। वे० सू०। वै० वृ०)

(ग)—सदसत् ॥२॥

प्रागित्यनुवर्तते। प्राक् कारणात्मना सद् भवत्कार्यात्मना कार्यं मसद् भवतीत्यर्थः।

तदेवहि कारण व्यापारेण न कथंचिदुत्पद्यते, यत्केनापि रूपेणोत्पत्तेः पूर्वं सन्नभवेत्। यथा सिकतासुतैलं कार्यजातं तु प्रागुत्पत्तेः कारणात्मना सद्भवदेव कार्यात्मना भवत्यसत्। अतो नकश्चिद्दोष इति भावः।

(वै० सू० वै० वृ० पृ १७४। अध्या० ९ आ० १ सू० २)

नहीं यह] उसको बृहस्पति भी नहीं हटा सकता। तथा वृक्ष में, कपि संयोग और तद्भाव-कपि संयोगाभाव इस प्रकार, भाव और अभाव को अवच्छेदक भेद से एक स्थान में मान कर दीधिति-कार ने भी अनेकान्तवाद के समर्थन में कुछ कमी रखी हो ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता।

[वेदान्तदर्शन]

वेदान्त दर्शन में भी अनेकान्तवाद की चर्चा पाई जाती है कहीं पर तो स्पष्ट रूप से और कहीं अस्पष्ट रूप से, मगर है अवश्य, ऐसा हमारा विश्वास है।

(भास्कराचार्य का ब्रह्म सूत्र भाष्य)

महर्षि व्यास देव प्रणीत ब्रह्म सूत्रों पर अनेकानेक भाष्य और टीकायें लिखी गई हैं उनमें से महामति भास्कराचार्य विरचित भाष्य भी एक है उसमें "*तत्तुसमन्वयात्*" (१-१-४) सूत्र के भाष्य में लिखा है "यदप्युक्तं भेदा भेदयोर्विरोध इति। तदभि-धीयते अनिरूपित प्रमाण प्रमेय तत्वस्येदंचोद्यम्।

एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेवगम्यते।
नानात्वं तस्य तत्पूर्वकस्माद् भेदोपि नेष्यते॥
परप्रमाणैः परिच्छिन्न मविरुद्धंहितत्तथा।
वस्तु जातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते॥

ब्रह्मभिन्नंभिन्न मेव वा कचित् केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सत्ता ज्ञेयत्व द्रव्यत्वादि सामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्त्या-त्मनातु परस्पर वैलक्षण्याद् भिन्नम्। तथाहि—

प्रतीयतेतदुभयं विरोधः कोयमुच्यते।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥
एक रूपं प्रतीतत्वात् द्विरूपं तत्तथेष्यताम्।
एक रूपं भवेदेक मितिनेश्वर भाषितम्॥

ननु शीतोष्णयोर्यथा परस्परंविरोधस्तथा भेदाभेदयोः किमिद मुच्यते नास्ति विरोधइति अत्रोच्यते भवतःप्रज्ञापराधोयं न वस्तुविरोधः कथं सहानवस्थानं छायातपवद् भिन्नदेश वर्तित्वं च शीतोष्ण वद्विरोधोनाम एतदुभय मिह कार्य कारण यो र्ब्रह्मप्रपञ्चयोर्नास्ति तदुत्पत्तेस्तत्रैवावस्थिते स्तत्रैव प्रल-यात्।..
......अतो भिन्ना भिन्न रूपं ब्रह्मेतिस्थितम्। संग्रह श्लोकः

कार्यरूपेण नानात्व मभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुंडलाद्यात्मनाभिदा॥ इति

(पृ० १७।१८)

भावार्थ—ब्रह्म का जगत् के साथ भेदाभेद मानने में जो यह कहा जाता है कि भेदाभेद का आपस में विरोध है इसलिये भेदाभेद एक स्थान में नहीं रह सकते। सो यह बात

---

* विद्या विलास प्रेस बनारस सिटी।

वही मनुष्य कह सकता है जो कि प्रमाण प्रमेयके तत्व से सर्वथा अनभिज्ञ है। वस्तु में एकत्व हमको जिस प्रमाण से प्रतीत होता है उसी से यदि उसमें नानात्व का भान हो तो फिर उसको क्यों न स्वीकार किया जाय ? जो प्रमाण से सिद्ध है उसमें विरोध की आशंका ही कैसी ? प्रमाण द्वारा संसार की गो महषी और अश्वादि सभी वस्तुएं परस्पर भिन्ना-भिन्न रूप से प्रतीत होती हैं। वस्तु एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न रूप ही है ऐसा कहीं पर भी कोई पुरुष दिखलाने को समर्थ नहीं हो सकता। सत्ता-ज्ञेयत्व और द्रव्यादि सामान्यरूप से सभी वस्तुएं परस्पर में अभिन्न हैं तथा व्यक्तिरूप से उनका परस्पर में भेद है। इस प्रकार भेदाभेद उभयरूप से पदार्थों की प्रतीति होती है इसमें विरोध क्या ? विरोध और अविरोध में प्रमाण ही तो कारण है ? प्रमाणानुरोध से वस्तु में जैसे एकत्व का भान होता है वैसे ही उसमें अनेकत्व भी अनुभव सिद्ध है। एक वस्तु सदा एक रूप में ही स्थित रहती है यह कोई ईश्वर का कहा हुआ नहीं अर्थात् यह कथन किसी प्रकार से भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता [शंका]—जिस प्रकार शीत और उष्ण का आपस में विरोध है वह एक जगह पर नहीं रह सकते इसी तरह भेदाभेद में भी विरोध अवश्य है आप कैसे कहते हैं कि भेदाभेद में विरोध नहीं [उत्तर]—यह अप-राध आपकी बुद्धि का है जो कि आपको भेदाभेद में विरोध प्रतीत होता है—वस्तु का इसमें कोई अपराध नहीं। भेदाभेद का, छाया और धूप की तरह भिन्न देशवर्ती होना और शीत उष्ण की तरह विरोधी होना इत्यादि जो कथन हैं वह कार्य

कारण रूप, ब्रह्म-प्रपंच के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि शीतोष्ण और छायातप में अधिकरण की भिन्नता है और ब्रह्मप्रपंच रूप कार्य कारण में वह नहीं है अर्थात् वहाँ पर तो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-विनाश इन तीनों का ही आधार-ब्रह्म है..............इत्यादि। इसलिये ब्रह्म, भिन्न अथच अभिन्न उभयरूप है यह सिद्ध होगया। कार्यरूप से नानात्व-भेद और कारणरूप से एकत्व-अभेद ये दोनों अनुभव सिद्ध हैं। जैसे सुवर्ण रूप से कटक कुण्डल का आपस में अभेद और कुण्डल रूप से परस्पर में भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है इसी प्रकार ब्रह्म में भी भेदाभेद की सिद्धि अनिवार्य है। इसके सिवाय भास्कराचार्य ने और भी एक दो स्थानों में भेदाभेद की चर्चा की है। यथा—"*अधिकंतुभेद निर्देशात्*" [२ । १ । २२] सूत्र के भाष्य में—"यथा वाऽत्यन्तभिन्नो जीवो न भवति तथा वक्ष्यामः। ननुभेदाभेदौ कथं परस्पर विरुद्धौ सम्भवेतां नैष दोषः—

प्रमाणतश्चेत् प्रतीयेत को विरोधोऽयमुच्यते।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥

(पृ० १०३)

तथा—"*नस्थानतोपि परस्योभयलिंगं सर्वत्रहि*" (३ । २ । १२) इस सूत्र के भाष्य में आप लिखते हैं—

"भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समधिगतं, इदानीं भेदरूपं अभेद रूपं चोपास्यमुतोपसंहृत समस्त भेदमभिन्नं सत्तलक्षण बोध रूप मुपास्य मित्यंशो विचार्यते" (पृ० १६४)

यथाचेश्वरादन्यस्यासंसारित्वं जीवपरयोश्च भेदाभेदौ तयोस्तत्रांशो नानाव्यपदेशा दित्येवमादौ विस्पष्टं वक्ष्यामः"

[पृ० २६]

"भेदाभेदयोर्हि सर्व प्रमाण सिद्धत्वा दुपपत्तिः"

(पृ० ६२)

इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मप्रपंच और जीव ब्रह्म के भेदाभेद का स्पष्टतया उल्लेख है। तथा—"*युक्तेः शब्दान्तराच्च*" (२।१।१८) इस सूत्र पर भाष्य करते हुए आप लिखते हैं—

"अवस्था तद्वतोश्च नात्यन्त भेदो नहि शुक्ल पटयोर्धर्मधर्मिणो रत्यन्त भेदः किन्त्वेक मेव वस्तु नहि निर्गुणं नाम द्रव्यमस्ति नहि निर्द्रव्यो गुणोस्ति तथोपलब्धेः उपलब्धिश्च भेदाभेद व्यवस्थायां प्रमाणं प्रमाण व्यवहारिणां। तथा कार्य कारणयो र्भेदाभेदावनुभूयेतेऽभेदधर्मश्च भेदो यथा महोदधे रभेदः सएव तरङ्गाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते नहितरंगादयः पाषाणादिषु दृश्यन्ते तस्यैव ताः शक्तयः शक्ति शक्तिमतोश्चानन्यत्व मन्यत्वं चोपलभ्यते। यथाग्नेर्दहन प्रकाशनादि शक्तयो[1] भेदाः यथाचवायोः प्राणादि वृत्तिभेदे

(१) यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है अन्य पुस्तक पास में न होने से हमने इसको अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक करना उचित नहीं समझा। ले०

नभेदः। तस्मात् सर्वमेकानेकात्मकं नात्यन्तमभिन्नं भिन्नंवा। तदेवं प्रत्यक्षमनुमानागमश्चास्मत्पक्षे प्रमाणत्रयंत्वत्पक्षे न किंचिदस्तीति विशेषः।"

(पृ० १०१)

अवस्था और अवस्था वाले का आपस में अत्यन्त भेद नहीं है। "शुक्ल पट" यहाँ पर शुक्ल और पट रूप धर्मधर्मी, आपस में अत्यन्त भिन्न नहीं हैं किन्तु एक हैं। संसार में कोई द्रव्य निर्गुण नहीं और कोई गुण द्रव्य बिना का (स्वतंत्र) नहीं किन्तु द्रव्य और गुण साथ ही उपलब्ध होते हैं। यह उपलब्धि ही भेदा-भेद की व्यवस्थापक है तथा कार्यकारण का भेदाभेद अनुभव सिद्ध है। अभेद स्वरूप ही भेद है। जैसे समुद्र रूप से जो (जल का) अभेद प्रतीत होता है वही तरंग रूप से भिन्न २ देखा जाता है। तरंगादि की कहीं पाषाणादि में उपलब्धि नहीं होती अतः वे सब जल की ही शक्तियें हैं। शक्ति और शक्ति वाले का भेदाभेद उपलब्ध ही है। इसलिये सभी पदार्थ एक और अनेक तथा परस्पर में न तो अत्यन्त भिन्न हैं और न अभिन्न किन्तु भिन्नाभिन्न हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिये हमारे पास तो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीनों ही प्रमाण उपस्थित हैं आपके पास कुछ भी नहीं इत्यादि।

इसके अतिरिक्त भास्कराचार्य ने जीव ब्रह्म का जो भेदाभेद माना है उसको भी आप सर्वथा यौक्तिक ही नहीं मानते किन्तु श्रुति सिद्ध भी बतलाते हैं। आपके भाष्य का वह स्थल भी द्रष्टव्य है आप कहते हैं कि यह कभी नहीं हो सकता कि

स्त्री के वचन की तरह श्रुति वचन का भी अनादर कर दिया जाय। जब कि एक श्रुति अभेद का प्रतिपादन करती है और दूसरी भेद का तब यह कहां का न्याय है कि एक को मानना और दूसरी का तिरस्कार कर देना, नहीं, दोनों को ही स्वीकार करना चाहिये इसलिये भेद और अभेद दोनों का ही ग्रहण करना उचित है × इन लेखों से प्रतीत होता है कि भास्कराचार्य अनेकान्तवाद के अर्थतः बहुत बड़ी सीमा तक प्रतिपादक और समर्थक हैं।

[विज्ञान भिक्षु का विज्ञानामृत भाष्य]

महामति भास्कराचार्य की भांति यति प्रवर विज्ञान भिक्षु ने भी ब्रह्म सूत्रों पर *विज्ञानामृत* नाम का एक छोटा सा भाष्य लिखा है। उसमें आप लिखते हैं—

(१) "*शक्ति शक्तिमतोर्भेदं पश्यन्ति परमार्थतः।*
अभेदं वानुपश्यन्ति योगिनस्तत्व चिन्तकाः॥

× *अत्रोच्यते यथैवेयमेवाभेदं दर्शयाति तथा पूर्व मुदाहृतं। आत्मनितिष्ठन्निति च भेदं दर्शयति किंन पश्यासि नह्यस्याः श्रुतेर्वचनं सुभगा वचन मिवानादरणीयम् प्रामाण्य तुल्यत्वात् अतो भेदाभेदौ गृहीतव्यौ।*

(स्मृतिकारों नेभी—"*श्रुतिद्वैधंतु यत्र स्यात्तत्रधर्माबुभौ स्मृतौ*"

इस वाक्य से भास्कराचार्य के कथन का कथमपि समर्थन किया है।

इतिकूर्म नारदीय वाक्येनान्योन्या भाव संमिश्रणरूपयोर्भेदाभेदयो रेव पारमार्थिकत्व वचनाच्चेति। अतएवोक्तम्—

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम्॥

एवमेव कार्य कारणयोः धर्म धर्मिणोश्चोभयो रेवलक्षण भेद सत्वेपि संमिश्रणरूप एवाभेदो बोध्यः" (१)

अर्थात्—"तत्व के चिन्तक योगी लोग शक्ति और शक्ति वाले का भेदाभेद ही देखते हैं" इस कूर्म और नारद पुराण के वाक्य से प्रतीत होता है कि भेदाभेद ही परमार्थ है। इसलिये कहा कि "यह सदसत् रूप विश्व-संसार भगवान् का ही रूप है। इसी प्रकार कार्य कारण और धर्म धर्मी का लक्षण रूप भेद होने पर भी संमिश्रण रूप से अभेद है।

(२) ब्रह्म सत्यमिति श्रुत्यैव स्पष्टमुक्तम्। तथा

चैतन्यापेक्षयाप्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत्।
असत्यं सत्यरूपंतु कुम्भ कुण्डाद्यपेक्षया॥

इति स्कान्देऽप्युक्तश्रुति समानार्थके ब्रह्मण एव सत्यासत्यत्वं लब्ध मिति (२)

---

(१) (पृष्ठ १११ विद्याविलास प्रेस काशी।

(२) पृ०, १६१।

ब्रह्म सत्यं इत्यादि श्रुति ने ही स्पष्ट कहा है और श्रुति के समान ही स्कन्द पुराण में लिखा है—चैतन्य की अपेक्षा यह समस्त संसार असत् और घट कुण्डादि की अपेक्षा से सत् है इससे ब्रह्म में सत्यत्व, असत्वत्व इन दोनों ही धर्मों की उपलब्धि प्रमाणित है।

विज्ञान भिक्षु के इस लेख से प्रतीत होता है कि उनको, अपेक्षाकृत भेद को लेकर पदार्थ में सत्वासत्व और भेदाभेद का सह अवस्थान अभीष्ट है। और भेदाभेद की सह अवस्थिति में जो विरोध बतलाया जाता है उस पर विज्ञान भिक्षु की शंका समाधि इस प्रकार है।

"ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र संभवेतामितिचेन्न। अन्योन्याभाव लक्षण भेदस्याविभाग लक्षणेनाभेदेना विरोधात्। विभागाविभागरूपयोरपि भेदाभेदयोः कालभेदेन व्यवहार परमार्थ भेदेनचाऽविरोधाच्च। नचा यमभेदो गौणइति वाच्यं, लवणं जलम भूत्, दुग्धं जलमभूत्—यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्.................. इत्यादि लोकवेदयोः प्रयोगबाहुल्येनाविभागस्यापि मुख्याभेदत्वात् भिदिर विदारणे इत्यनुशासनाच्च।

परमात्माजगद्रूपी सर्वसाक्षी निरंजनः।
भिन्नाभिन्न स्वरूपेण स्थितोऽसौ परमेश्वरः॥

इत्यादि स्मृति शतादपि भेदाभेद विरोधोऽप्रामाणिक इति१ ।

भावार्थ—(शंका) भेदाभेद परस्पर विरोधी हैं अतः ये दोनों एक स्थान में नहीं रह सकते ।

(उत्तर)—अन्योन्याभाव रूप भेद का अविभाग रूप अभेद के साथ अविरोध होने से भेदाभेद की सह अवस्थिति में कोई आपत्ति नहीं । तथा विभागाविभाग रूप भेदाभेद में कालकृत अपेक्षाभेद, व्यवहार और परमार्थ कृत अपेक्षा भेद से कोई विरोध नहीं अर्थात् भिन्न २ समय की अपेक्षा व्यवहार और परमार्थ की अपेक्षा से भेदाभेद, एक स्थान में रह सकते हैं । जैसे भेद मुख्य है ऐसे अभेद भी मुख्य है । तथा सर्वसाक्षी परमात्मा भिन्नाभिन्न स्वरूप से ही सब जगह पर अवस्थित है इत्यादि सैकड़ों स्मृतियें भेदाभेद का बोधन करती हुई उनके विरोध को अप्रामाणिक बतला रही हैं ।

हमारे ख्याल में विज्ञान भिक्षु के इस उक्त लेख पर किसी प्रकार के टीका टिप्पन की आवश्यकता नहीं, लेख सरल और स्पष्ट है । वे (विज्ञान भिक्षु) अपेक्षा कृत भेद दृष्टि से कार्य कारण और धर्म धर्मी आदि के भेदाभेद को मुक्त कंठ से स्वीकार कर रहे हैं और उसको भी वे केवल युक्ति संगत ही नहीं किंतु शास्त्र सम्मत भी बतला रहे हैं । अनेकान्तवाद का भी यही मंतव्य है वह भी तो अपेक्षाकृत भेद से ही भेदाभेद की एकत्र अवस्थिति मानता है केवल शब्दों का कुछ फेर है अर्थ में कुछ

---

(१) (पृष्ठ १६२)

भेद नहीं। हमारे विचार में तो "*विज्ञानामृत*" भाष्य का उक्त लेख किसी सीमा तक अनेकान्तवाद का सम्पूर्ण रूप से समर्थक है ऐसा कहने में ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं।

[वेदांत पारिजात सौरभ]

निम्बार्काचार्य ने ब्रह्म सूत्र पर "*वेदान्त पारिजात सौरभ*" नाम का एक बहुत ही छोटा सा भाष्य लिखा है। उसमें "*तत्तुसमन्वयात्*" (१ । १ । ४) इस सूत्र पर निम्बार्काचार्य लिखते हैं—

"सर्व भिन्ना भिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति"

(पृ० २ विद्या विलास यंत्रालय बनारस)

अर्थात् भिन्नाभिन्न स्वरूप विश्वात्मा भगवान् वासुदेव ही जिज्ञासा का विषय है।

निम्बार्काचार्य भेदाभेद वाद के पूरे अनुयायी हैं × इसलिये उनका कथन अनेकान्तवाद का कहां तक पोषक है इसकी अधिक चर्चा करनी अनावश्यक है पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

× निम्बर्काचार्य के सिद्धान्त के विषय में हमारे इस कथन का समर्थन, गुजरात के साक्षर विद्वान् श्रीयुत नर्मदा शंकर देव शंकर महता बी० ए० के एक लेख से भली प्रकार होता है। वह लेख गुजराती भाषा में इस प्रकार है—

[श्री भाष्य]

विशिष्टाद्वैत मत के प्रधान आचार्य श्री रामानुजस्वामी ने भी ब्रह्म सूत्र पर "*श्री भाष्य*" नाम का एक बृहत्काय ग्रन्थ लिखा है। रामानुजाचार्य यद्यपि अनेकान्तवाद के पूर्ण विरोधी हैं

"प्रस्थानत्रयी ऊपर शुद्धाद्वैत मतनुंस्थापन श्री वल्लभाचार्येकर्युं अने विशिष्टाद्वैत मतनुं स्थापन श्री रामानुजे कर्युं ....ते उपरांत बीजी वे शाखाना वैष्णव मतो प्रस्थानत्रयी (गीता उपनिषत् और ब्रह्म सूत्र) ऊपर सिद्धान्त रचेछे तेमां निम्बार्क मत कइंक वधारे जूनोछे अनेते भट्ट भास्कर (भास्कराचार्य जिसके भाष्य का उल्लेख पीछे आ चुका है वह) ना लगभग समकालीन जणायछे तेमतमां भेद अने अभेद बन्ने समकक्षाए खराछे एवोतात्विक सिद्धान्तछे अनेतेथी तेमां आ दृश्य जगत् स्वाभाविक भेदा भेद वालुं ब्रह्म छे एवोनिर्णय छे।

(हिंद तत्वज्ञाननो इतिहास पृ० २८१ जुबिली प्रेस अहमदाबाद)

नोट—सुना है कि इस भाष्य पर निम्बार्क सम्प्रदाय के किसी विद्वान् ने एक बड़ी भारी व्याख्या लिखी है और वह मुद्रित भी हो चुकी है हमने उसकी तलाश भी कराई मगर वह उपलब्ध नहीं हो सकी यदि मिल जाती तो सम्भव था कि उस पर से अनेकान्तवाद के विषय में उक्त भाष्य की अपेक्षा कुछ अधिक प्रकाश पड़ता। (ले०)

उन्होंने भेदाभेद के सह अवस्थान का श्रीभाष्य में बड़े ही विस्तार से निराकरण किया है परन्तु उनके विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त का जब सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया जाता है तब वह (विशिष्टाद्वैत) अनेकान्तवाद की छाया से ओत प्रोत ही प्रतीत होता है। रामानुज मत के अनुसार ब्रह्म निर्विशेष पदार्थ नहीं किन्तु चित् और अचित् इन दो विशेषणों से विशिष्ट है। चित्-जीव राशी-जीव समुदाय, अचित्-जड़ राशि-समस्त जड़ वर्ग—ये दो ब्रह्म के विशेषण और ब्रह्म इनका विशेष्य है तात्पर्य कि चित् अचित् ये दोनों ब्रह्म के शरीर और ब्रह्म शरीरी है। तब विशिष्टाद्वैत का यह अर्थ हुआ विशिष्ट-चित् अचित् विशेषण वाला ब्रह्म एक अथवा अभिन्न है। विशेषण भूत चित्-जीव-अचित् प्रकृति वस्तु, स्वरूप से पृथक् होने पर भी समुदाय रूप-विशिष्ट रूप-से एक अथवा अभिन्न हैं यह तात्पर्य विशिष्टाद्वैत का निकला। इस दशा में स्वरूपापेक्षया अनेकत्व-भिन्नत्व और विशिष्टापेक्षया एकत्व-अभिन्नत्व की प्रतीति होने से ब्रह्म में अपेक्षाकृत एकत्वानेकत्व बलात् स्वीकृत हुआ। हमारे इस कथन की सत्यता को श्री भाष्य का निम्न लिखित पाठ कुछ और भी अधिक रूप से प्रमाणित करता है। यथा—

एतदुक्तं भवति चिदचिद् वस्तु शरीरतया तदात्म भूतस्य ब्रह्मणः संकोच विकासात्मक कार्य कारण भावावस्था द्वयान्वयेपि नकश्चिद् विरोधः यतः संकोचविकासौ परब्रह्म शरीरभत चिदचि-

वस्तु गतो शरीर गतास्तु दोषानात्मनि प्रसज्यन्ते आत्म गताश्च गुणा न शरीरे]*

स्थूल सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट [स्थूल सूक्ष्म जड़चेतन शरीर वाला] ब्रह्म ही कार्य अथच कारण रूप से अवस्थित है × इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य कारण भाव से संकोच विकास स्वरूपता ब्रह्म को प्राप्त होगी जोकि अनिष्ट कारक है इस आक्षेप का समाधान करते हुए रामानुजाचार्य कहते हैं—"चिदचिद्वस्तु शरीर भूत ब्रह्म मे" संकोच विकासात्मक कार्य कारण रूप अवस्था द्वय का सम्बन्ध होने से भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि संकोच विकास वस्तुतः ब्रह्ममे नहीं किन्तु उसके शरीर भूत [शरीर स्वरूप] चिदचित् [चेतन और जड़] वस्तु में है। शरीर गत दोषों की आत्मा में प्रसक्ति नहीं हो सकती और आत्मगत गुणों का शरीर में लेप नहीं होता। इसलिये परब्रह्म में संकोच विकास की स्वीकृति होने पर भी कोई दोष नहीं।

भला इससे बढ़कर अनेकान्तवाद की स्वीकृति का और कौनसा लेख हो सकता है ! प्रथम तो विशिष्ट को एक अथवा

---

* २ । १ । ६ सूत्र का भाष्य पृ० ४११
(निर्णय सागर प्रेस बम्बई)

× *अतः स्थूलसूक्ष्म चिदचित्प्रकारक ब्रह्मैवकार्य कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत् ।*
[श्री भाष्य पृ० १२०—१ । १ । १ सू०]

अभिन्न मानकर उसमें [चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में] संकोच विकास अथवा कार्य कारणत्व रूप अवस्थाद्वय को स्वीकार करना, फिर उक्त संकोच विकास अवस्था को, उसके शरीर भूत विशेषण स्वरूप--चिदचिद्वस्तु में ही बतलाना निस्संदेह विशिष्ट में एकत्व अभिन्नता-अथच अनेकत्व--भिन्नता को प्रमाणित करता है। यदि विशिष्ट सर्वथा एक अथवा अभिन्न है तो शरीरादिगत अथवा चिदचिद्वस्तु गत गुण दोषों का उसमें संचार क्यों नहीं? विशिष्ट को अभिन्न मानकर भी गुण दोषों को मात्र विशेषण में ही स्वीकार करना, बलात् सिद्ध करता है कि ये दोनों [विशेषण और विशेष्य-विशेषण-चिदचिद्वस्तु । विशेष्य-परब्रह्म] कथंचित् भिन्ना भिन्न हैं। एकान्ततया भिन्न अथच अभिन्न नहीं। हमारे ख्याल में विशिष्टाद्वैत का यही तात्पर्य है कि समुदायरूप से चित् अचित् और ब्रह्म एक अथवा अभिन्न हैं और व्यक्ति रूप से ये सब अनेक अथच भिन्न हैं। श्री भाष्य के लेखों से भी ऐसा ही प्रतीत होता है अतः हमारे विचार में रामनुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत भी अनेकान्तवाद का ही प्रतिरूप है।

[श्री कंठ शिवाचार्य का ब्रह्ममीमांसा भाष्य]

श्री रामानुज की तरह, शिव विशिष्टा द्वैतमत के संस्थापक, श्री कंठशिवाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र पर "**ब्रह्म मीमांसा भाष्यं**" इस नाम का एक भाष्य लिखा है। श्री कंठाचार्य ने तो सीधे और स्पष्ट शब्दों में विशिष्टाद्वैत को भेदाभेद का सादृश्य देते हुए अनेकान्तवाद की अनुसृति का असंदिग्ध रूप से परिचय

दिया है। "**अधिकंतुभेद निर्देशात्**" [२ । १ । २२] इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उक्त भाष्य में आप लिखते हैं—

ननु **तदनन्यत्वं** [२ । १ ।१५] इत्यभेद प्रतिपादनात् **अधिकंतु** [२ । १ । २२]

इति भेद प्रतिपादनात् प्रपंचब्रह्मणो भेदाभेदः साधितो भवति, इति चेत् न । भेदाभेद कल्पं विशिष्टाद्वैतं साधयामः । न वयं ब्रह्म प्रपचयो रत्यन्तमेव भेदवादिनः घटपटयोरिव तदनन्यत्व पर श्रुति विरोधात् । नवात्यन्ताभेद वादिनः शुक्ति रजतयोरिवैकतर मिथ्यात्वेन तत्स्वाभाविक गुण भेद पर श्रुति विरोधात् । नापि भेदाभेद वादिनः वस्तु विरोधात् किन्तु शरीर शरीरिणोरिव गुणगुणिनो रिव च विशिष्टाद्वैते वादिनः । प्रपंच ब्रह्मणो रनन्यत्वंनाम मृद् घटयोरिव गुण गुणिनोरिव कार्य कारणत्वेन, विशेषण विशेष्यत्वेन विना भाव रहितत्वं । नहिमृदं विना घटो दृश्यते नीलिमानं विनाचोत्पलं तथा ब्रह्म विना प्रपंच शक्तिस्थितिः शक्ति व्यतिरेकेण न कदाचिदपि ब्रह्म विज्ञायते वन्हिरिवौष्ण्यं विना येन विना यन्न ज्ञायते तत्तेन विशिष्टमेव तत्वं च तस्य स्वभाव एव । अतः सर्वथा प्रपंचाविना भूतं ब्रह्म तस्मादनन्यत्व मित्युच्यते भेदश्च स्वाभाविकः ×

+ [पृष्ठ ११३–१४ गवर्नमेण्ट प्रेस मैसूर ।]

भावार्थ—प्रश्न—"तदनन्यत्वं" इत्यादि सूत्र, अभेद का प्रतिपादन करता है और "अधिकंतु भेद निर्देशात्" सूत्र, भेद का विधान कर रहा है इससे सिद्ध हुआ कि सूत्रकारको ब्रह्म और प्रपंच का भेदाभेद ही अभिमत है [न कि अत्यन्त भेद अथवा अभेद]

उत्तर—ऐसे न कहो हम भेदाभेद सदृश विशिष्टाद्वैत को सिद्ध करते हैं। हम ब्रह्म और प्रपंच का एकान्त भेद नहीं मानते, इनका आत्यन्तिक भेद मानने से घट पट की तरह ये भी अत्यन्त भिन्न सिद्ध होंगे तब तो अभेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ विरोध होगा। इस भय से यदि इनको एकान्ततया अभिन्न स्वीकार करें तब शुक्ति रजत की भांति, ब्रह्म और प्रपञ्च इन दो में से एक मिथ्या ठहरेगा। [तभी अभेद सिद्ध होगा] परन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्म और प्रपञ्च का—इनके स्वाभाविक× गुणों को लेकर श्रुति ने जो भेद प्रतिपादन किया है उसकी उपपत्ति नहीं होगी अर्थात् भेद प्रतिपादक श्रुति से विरोध होगा। तथा भेदाभेद का भी अंगीकार नहीं कर सकते क्योंकि भेदाभेद आपस में विरोधी हैं। किन्तु शरीर और शरीरी (शरीर वाला) गुण और गुणी की तरह इनका [ब्रह्म प्रपञ्च का] विशिष्टाद्वैत—विशिष्ट रूप से अभेद मानना ही युक्ति संगत है।

× ब्रह्म में नित्यत्व, प्रपंच में अनित्यत्व, ब्रह्म में अविकृति, प्रपंच में विकार, ब्रह्म में चेतनत्व, प्रपंच में जड़ता, ब्रह्म में एकत्व और प्रपंच में अनेकता आदि स्वाभाविक गुणों की परस्पर भिन्नरूप से उपलब्धि होती है।

प्रश्न—तब अभेद और भेद प्रतिपादक श्रुतियों की क्या गति ?

उत्तर—मृतिका और घट गुण और गुणी की तरह कार्य-कारण और विशेषण विशेष्य रूप से सदा व्याप्त रहना ही, प्रपंच और ब्रह्म का अनन्यत्व या अभेद है। जिस प्रकार मृत्तिका के बिना घट और नीलिमादि के बिना उत्पल-कमल की उपलब्धि नहीं होती उसी प्रकार ब्रह्म के बिना प्रपंच शक्ति की स्थिति और शक्ति के बिना ब्रह्म का भी कहीं पर ज्ञान नहीं होता। उष्णता के बिना अग्नि की जैसे कहीं पर उपलब्धि नहीं होती उसी तरह शक्ति के बिना ब्रह्म का भी भान असम्भव है जिसके बिना जिसका ज्ञान न हो वह उससे विशिष्ट होता है। इस लिये ब्रह्म को सर्वथा प्रपंचविशिष्ट होने से वह प्रपंच से अभिन्न है, और भेद तो स्वाभाविक है ही। अर्थात् विशेषण विशेष्यगत स्वाभाविक गुणों की विभिन्नता से इनका—प्रपंच और ब्रह्म का—भेद तो सिद्ध ही है इत्यादि।

आचार्य प्रवर श्री कण्ठ के इस लेख से अनेकान्तवाद पर जो उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है वह तो प्रत्यक्ष ही है परन्तु उन्होंने श्रुति, सूत्र और प्रमाण सिद्ध सापेक्षक भेदाभेद को न मान कर तत्सदृश विशिष्टाभेद को ही आदरणीय स्थान दिया, ऐसा द्राविड़ प्राणायाम क्यों ? क्या भेदाभेद में आप जो वस्तु विरोध बतलाते हैं वह आपके विशिष्टाद्वैत में नहीं ? विशिष्टाद्वैत भी तो भेदाभेद रूप ही है। कार्यकारण [प्रपंच ब्रह्म] में विशिष्टतया अभेद और स्वभावरूप से भेद का अंगीकार करना, क्या भेदाभेद की स्वीकृति नहीं क्या यह भेदाभेद, उक्त भेदाभेद से [जिसमें कि आप वस्तु

विरोध बतलाते हैं] कुछ भिन्न प्रकार का है ? अच्छा ! अब आपका एक और लेख देखिये ।

"नतु दृष्टान्ताभावात्" [२।१।६४] इस सूत्र के भाष्य में आप लिखते हैं ।

"यस्यात्मा शरीरं" "यस्याव्यक्तं शरीरं" इत्यादि श्रुत्या—

विग्रहं देव देवस्य जगदेतच्चराचरम् ।
एतमर्थं न जानन्ति पशवः पाशगौरवात् ॥

इत्यादि पुराणो क्त्या सिद्धं चिद चिच्छरीरकस्य पर ब्रह्मणः शिवस्य कार्यतया कारणतया चावस्थाने गुण दोष व्यवस्थायां दृष्टान्त सद्भावात् तत्र वेदान्तवाक्य समन्वयसामरस्यं असमंजसं न भवीत कथम् ? यथा शरीरस्य मनुष्याद्यात्मनो बालत्व युवत्व स्थविरत्वादि भावेपि बालत्वादयः शरीर एव सुखादय स्त्वात्मन्येव तद्वदत्रापि शरीर भूत चिदचिदस्तु गताज्ञान विकाराद्यनिष्टानि शरीर भूते चिदचिदस्तुन्येव तिष्टन्ति निरवद्यत्वा विकारित्व सार्वज्ञ्य सत्य सङ्कल्पत्वादय आत्मभूते परमेश्वर एव तदेव दृष्टान्त भावात् श्रुत्यसामंजस्यं ब्रह्मणिनास्त्येव । (पृ० १२६)

"जिसका आत्मा शरीर है, जिसका अव्यक्त शरीर है" । इत्यादि श्रुति और "अज्ञान की प्रचुरता से पशु लोग इस बात को नहीं जानते कि यह चराचर जगत् देवाधिदेव [परमात्मा] का ही

शरीर है" इत्यादि पुराणोक्तियों से चिदचित–चेतन और जड़–शरीर भूत परब्रह्म शिव ही कार्य और कारण रूप अवस्था-द्वय से अवस्थित है। तथा उसमें चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में–गुण दोष व्यवस्था के लिये दृष्टान्त का सद्भाव होने से वेदान्त वाक्यों का समन्वय भी भली भांति हो सकता है। जैसे–मनुष्य रूप शरीरात्मा में बाल, युवा और वृद्धत्वादि तथा सुख दुःखादि दोनों दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु इनमें बालत्वादि धर्म जैसे शरीर के और सुख दुःखादि आत्मा के हैं वैसे ही परब्रह्म के शरीर भूत चिदचिद्वस्तु में रहने वाले अज्ञान विकार आदि अनिष्ट दोष तो शरीर रूप चिदचिद्वस्तु में ही रहते हैं और निरवद्यत्व–निष्पापता–अविकारित्व सर्वज्ञत्व और सत्य संकल्पत्वादि गुण, आत्मभूत परमेश्वर में ही निवास करते हैं इसलिये किसी प्रकार का भी असामंजस्य नहीं है इत्यादि।

इस लेख का तात्पर्य यह है कि जड़ चेतन शरीर वाला परमात्मा ही कार्य कारण रूप से सर्वत्र स्थित है। चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म एक अथवा अभिन्न होने पर भी विशेषण और विशेष्य-गत गुणदोषों का एक दूसरे में संमिश्रण नहीं होता। जैसे शरीर विशिष्ट आत्मा की एक अथवा अभिन्न रूप से प्रतीति होने पर भी बढ़ना घटना शरीर में होता है और सुख दुःख आदि का भान आत्मा में होता है इसी प्रकार परमेश्वर के शरीर भूत जीव और प्रकृति में तो अज्ञान और विकरत्वादि दोष रहते हैं और आत्मभूत परमेश्वर में सर्वज्ञत्वादि गुण रहते हैं। परन्तु विशिष्ट एक अथवा अभिन्न ही है।

उक्त लेख से जो अभिप्राय प्रकट होता है वह स्फुट है। चिदचिद्विशिष्टब्रह्म, विशिष्ठ रूप से—समुदायरूपसे—एक अथवा अभिन्न है तथा विशेषण और विशेष्यरूप से अनेक अथवा भिन्न है। यही विशिष्टाद्वैत का तात्पर्य प्रतीत होता है। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीकंठाचार्य भी वस्तुतः अनेकान्तवाद के विरोधी नहीं किन्तु शब्दान्तर से उसके प्रतिपादक हैं।

[वल्लभाचार्य का तत्वार्थ प्रदीप]

श्रीवल्लभाचार्य, शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक हैं आपने ब्रह्म-सूत्र पर अणुभाष्य लिखने के सिवाय "**तत्वार्थ प्रदीप**" नाम का छोटा सा एक सटीक ग्रन्थ लिखा है। उसके देखने से मालूम होता है कि आप ब्रह्म में सभी विरोधी गुणों को स्वीकार करते हैं। इससे सर्वथा तो नहीं परन्तु किसी अंश में तो अनेकान्त-वाद का समर्थन होता है। फ़र्क सिर्फ इतना है कि अनेकान्तवाद विरोधी धर्मों का एक पदार्थ में अविरोध, अपेक्षा दृष्टि से मानता है और वल्लभाचार्य ने ईश्वर के विषय में अपेक्षा की कुछ आवश्यकता नहीं मानी। वे तो स्पष्ट शब्दों में विरोधिगुणों की सत्ता को ईश्वर में स्वीकार करते हैं। यथा—

❀ सर्व वादानवसरं नाना वादानुरोधिच।

अनन्त मूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेवच ॥७२॥

विरुद्ध सर्व धर्माणां आश्रयं युक्तयगोचरम् ॥ (पृ० ११५)

❀ तत्र ब्रह्मणि विरुद्ध धर्माः सन्तीति ज्ञापनार्थमाह—अनन्त मूर्ति-इति। अनन्ता मूर्तयोयस्य। ब्रह्म एकं व्यापकंच तेना नेकत्व मेकत्वंच निरूपितं एवं गुण विरोध मुक्त्वा क्रिया विरोध माह—कूटस्थं चलमेवेति [प्रकाश व्याख्या]

ब्रह्म सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है—वह कूटस्थ भी है और चल भी एक भी है और अनेक भी इत्यादि ।

इस लेख से जो कुछ प्रतीत होता है वह स्फुट है । ब्रह्म एक भी है और अनेक भी अचल भी है और चल भी इत्यादि रूप से जो विरुद्ध गुणों की उसमें स्थिति बतलाई जाती है वह अपेक्षा कृत भेद के अनुसार ही युक्तियुक्त समझी जाती है अन्यथा नहीं इसलिये इस प्रकार के वाक्य भी अपेक्षावाद अनेकान्तवाद के ही समर्थक हैं ऐसा हमारा विचार है ।

[पञ्चदशी]

शांकर मत के अनुयायी विद्यारण्य स्वामी ने वेदान्त विषय पर पञ्चदशी नाम का एक सुवाच्य प्रकरण ग्रन्थ लिखा है । उक्त ग्रन्थ में भी रूपान्तर से अनेकान्तवाद का उल्लेख देखा जाता है । माया का निरूपण करते हुए विद्यारण्य स्वामी स्पष्ट रूप से अपेक्षावाद का आश्रय लेते हुए प्रतीत होते हैं । अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद का ही पर्यायवाची शब्द है यह बात कई दफ़ा कही गई है ।

पञ्चदशी के चित्रदीप प्रकरण में आप लिखते हैं—

(१) *तुच्छा निर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।*
ज्ञेया मायात्रिभिर्बोधैः श्रौत यौक्तिक लौकिकैः ॥१३०॥

(२) *अस्य सत्वमसत्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।*
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

(३) अस्वतंत्रा हि माया स्याद प्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतंत्रापि तथैवस्या दसंगस्यान्यथा कृतेः* ॥१३२॥

(१) माया, तुच्छ, अनिर्वचनीय और वास्तवरूप से तीन प्रकार की है श्रुति से तुच्छ, युक्ति से अनिर्वचनीय और लौकिक व्यवहार से सत्य है ।

(२) जिस प्रकार पट के प्रसारण और संकोच से तद्गत चित्रों का दर्शन और अदर्शन प्रतीत होता है उसी प्रकार इस जगत् के भी सत्वासत्व को यह माया दिखलाती है ।

(३) यहमाया स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी । अस्वतंत्र इसलिये कि चेतन के बिना इसकी प्रतीति नहीं होती और स्वतंत्र इस अपेक्षा से कि संग रहित चेतन को भी यह अन्यरूप में बदल देती है । इस कथन से माया में स्वतंत्रता और परतंत्रता ये दोनों ही धर्म अपेक्षा भेद से विद्यमान हैं यह तत्व साबित हुआ।

भेदाभेद

शक्ति और शक्ति वाले के सम्बन्ध का जिकर करते हुए उनको परस्पर में भिन्नाभिन्न रूप से ही आपने स्वीकार किया है और कार्य कारण का भी भेदाभेद रूप से ही उल्लेख किया है तथाहि–

---

* स्वाभासक चैतन्यं विहाय न प्रकाशते इत्यस्वतंत्रा, असंगस्यात्मनोऽन्यथा करणात् स्वतंत्रापीत्यर्थः [टीका]

(१) "शक्तिः शक्तात् पृथङ्नास्ति तद्वद् दृष्टेर्नचाभिदा"।
"प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वात् शक्त्याभावे तु कस्य सः"॥

भावार्थ—अग्न्यादि पदार्थ में जो दाहक—जलानेवाली—शक्ति है वह अग्नि आदि से भिन्न नहीं, यदि भिन्न हो तो अग्नि से भिन्न रूप में उसकी उपलब्धि होनी चाहिये। तथा वह शक्ति सर्वथा अभिन्न भी नहीं क्योंकि प्रतिबन्धक के सद्भाव में उसका विलोप देखा जाता है। तात्पर्य कि अग्नि में रहने वाली दाहक शक्ति यदि सर्वथा अग्नि का ही स्वरूप हो तो मणि मंत्र औषधि के सन्निधान से अग्नि में दाहकत्व का जो अभाव देखा जाता है उसकी संगति नहीं होसकती। अग्नि के मौजूद होने पर भी वहां दाह नहीं होता इससे प्रतीत हुआ कि शक्ति अग्नि से सर्वथा अभिन्न भी नहीं। किन्तु भिन्न अथच अभिन्न है यह अर्थात् सिद्ध हुआ। इसलिये शक्ति और शक्तिवाले का अपेक्षाकृत भेदाभेद ही प्रमाणित हुआ।

---

(१) शक्ति रग्न्यादि निष्ठा स्फोटादिजनिका, शक्ता-दग्न्यादिस्वरूपात् पृथङ्नास्ति कुत इत्यत आह-तद्वदिति। तद्वत्तथात्वस्य भेदेनासत्वस्य दृष्टेर्दर्शनात् अग्न्यादिस्वरूपा-तिरेकेणा नुपलभ्यमानत्वादित्यर्थः। नाप्यग्न्यादि स्वरूपमेव शक्तिरित्यत आह-नचेति। अभिदा अभेदोपि तच-नैव तत्रापि-हेतुमाह प्रतिबन्धस्येति मणिमंत्रादिभिः शक्ति कार्यस्य स्फोटादेः प्रतिबन्ध दर्शनात् स्वरूपातिरिक्ता शक्तिर्द्रष्टव्येत्यभिप्रायः।

(इति टीकयां पृ० ४४ निर्णय सागर प्रेस बम्बई)

कार्य कारण के विषय में विद्यारण्य लिखते हैं—

(२) "स घटो नो मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्"
"नाप्यभिन्नः पुरापिण्ड दशाया मनवेक्षणात्"॥३५
"अतोऽनिर्वचनीयोयं शक्ति वत्तेन शक्तिजः"।
"अव्यक्तत्वे शक्ति रुक्ता व्यक्तत्वे घट नाम भृत्। ३६

भावार्थ—घट मृत्तिका से भिन्न नहीं हैं भिन्न हो तो मृत्तिका के विना भी स्वतंत्र रूप से घट की उपलब्धि होनी चाहिये। तथा अभिन्न भी नहीं अभिन्न हो तो पिंड दशा में भी उसको उपलब्ध होना चाहिये अर्थात् मृत्तिका के पिंड में भी घट का प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसलिये मृत्तिका से घट न तो सर्वथा भिन्न और न अभिन्न किन्तु अनिर्वचनीय है [कथंचित्—सापेक्षतया-भिन्नाभिन्न है] अव्यक्त दशा में वह शक्ति रूप से अवस्थित है और व्यक्त दशा में घट नाम को धारण कर लेता है इत्यादि।

विद्यारण्य स्वामी यद्यपि अद्वैत मत के ही अनुयायी हैं उनका सिद्धान्त वही है जिसका स्थापन स्वामि शंकराचार्य ने किया है। परन्तु उनके उक्त कथन से कार्य कारण के भेदाभेद की एकान्तता का निषेध स्पष्ट प्रतीत होता है। वे, घट को मृत्तिका से एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न न मानते हुए उसको अनिर्वचनीय बतलाते हैं परन्तु विचार दृष्टि से देखा जाय तो यह

---

(२) ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्द प्रकरणम्।

"अनिर्वचनीय" शब्द अनेकान्तवाद का ही रूपान्तर से परिचायक है। इस पर हम आगे चलकर यथाशक्ति अवश्य विचार करेंगे।

वेदान्त दर्शन में अनेकान्तवाद का कहां और किस रूप में जिकर है इसका उल्लेख हमने इस प्रकरण में कर दिया है अब इस पर अधिक विचार विवेकशील जनता स्वयं कर सकती है हमारी धारणा तो यही है कि वेदान्त दर्शन में भी पदार्थ व्यवस्था के लिये अनेकान्तवाद का कहीं २ पर आश्रय अवश्य लिया गया है जोकि उसके अनुरूप ही है।

[बौद्ध दर्शन]

बौद्ध दर्शन के विषय में हमारा ज्ञान बहुत परिमित है हमने स्वतंत्ररूप से बौद्ध धर्म के तात्विक विषय का कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा अन्य दर्शन शास्त्रों में बौद्ध तत्वज्ञान के विषय में पूर्व पक्षरूप में जो कुछ लिखा गया है उतने मात्र का ही हमें यथा कथंचित् बोध है परन्तु हमारा विश्वास है कि साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण प्रतिवाद के निमित्त अनुवाद रूप से जो कुछ लिखा जाता है वह वास्तविक अभिप्राय से कुछ भिन्न होता है। परन्तु कतिपय भारतीय विद्वानों ने ऐतिहासिक गवेषणा के उपलक्ष में बौद्ध तत्व ज्ञान पर जो कुछ लिखा है उसके आधार से हम इतना कहने का साहस अवश्य कर सकते हैं कि बौद्ध दर्शन में भी तात्विक विषय की व्यवस्था के लिये अपेक्षावाद का अवलम्बन अवश्य किया गया है।

बुद्ध भगवान् के बाद, बौद्ध धर्म "हीनयान" और "महायान" इन दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हुआ उनमें भी हीनयान की, सौत्रांतिक और वैभाषिक, ये दो मुख्य शाखायें, और महायान की योगाचार और माध्यमिक ये दो मुख्य शाखायें हुईं इस प्रकार मिलकर इन चार शाखाओं में बौद्ध तत्वज्ञान संकलित हुआ प्रतीत होता है। (×) तात्पर्य कि बुद्ध भगवान् के पीछे जब उनकी शिक्षा पर दार्शनिक विचार उठे तो बौद्धों के सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक ये चार मुख्य भेद हुए*। इनमें सौत्रांतिक और वैभाषिकों का जो सिद्धान्त है वह "*हिन्द तत्वज्ञान नो इतिहास*" के लेखक के साधार कथन के मुताबिक इस प्रकार है + बाह्य और अभ्यन्तर पदार्थ

× *परन्तु छेवटे हीन याननी बे मुख्य शाखा सर्वास्तित्ववादीनी (१) सौत्रांतिक अने (२) वैभाषिक अने महायाननी बे मुख्य शाखा (१) योगाचार अने (२) माध्यमिक मली चार शाखामां बौद्ध तत्वदर्शन प्रथित थयुं जणायछे।*

(हिन्द तत्वज्ञाननो इतिहास पृ० १५०)

* सिद्धान्त चन्द्रोदय [तर्क संग्रह टीका] में इनके और भी भेदों तथा उपभेदों का जिकर है परन्तु दार्शनिक विचार में वे उपयोगी नहीं हैं।

+ *सर्वास्तित्ववादी (सौत्रांतिक और वैभाषिक) ना मत प्रमाणे भूत भौतिक समुदायरूप पदार्थो अने स्कन्धरूप समुदाय रूप पदार्थो जेने अपणे अनुक्रमे बाह्यार्थ अने आंतर*

समुदाय बाहर और अन्दर की वस्तुओं का समूह—नित्य सत्ता वाला है और उसकी प्रतीति में क्षणिकत्व उसके साथ मिला हुआ है वह पदार्थ समूह-सन्तान अथवा प्रवाह रूप से नित्य और प्रत्येक रूप से क्षणिक-अनित्य है।

यह कथन जैन दर्शन के अनेकान्तवाद [नित्या नित्यत्व-वाद]—का असन्दिग्धतया समर्थन कर रहा है।

तथा विज्ञानवादी योगाचार का आलय विज्ञान भी "विकारिनित्य अथवा परिणामि नित्य पदार्थ होने से कथंचित् नित्यानित्य ही सिद्ध होता है + ।

इसके सिवाय माध्यमिक मत—शून्यवाद-के प्रधान आचार्य नागार्जुन ने बुद्ध भगवान् के वास्तविक अभिप्राय को प्रकट करते हुए " माध्यमिक कारिका " के आरम्भ में जो कारिका लिखी है उससे अनेकान्तवाद की और भी पुष्टि होती है।

अर्थ कहिये ते उभय नित्य अस्तित्व वालाछे। अने क्षणिकता ते तेनी प्रतीति ने वलगेलीछे। संतान अथवा प्रवाहरूपे ते नित्य छे अने प्रत्येक स्वभावे क्षणिक छे।

(पृ० १५५)

+ *'आलय विज्ञान' विकारि नित्य अथवा परिणामि नित्य पदार्थ छे।* (हिन्द तत्व ज्ञान नो इतिहास पृ० १७६)

वह कारिका इस प्रकार है—

अनिरोध मनुत्पाद मनुच्छेद मशाश्वतम् ।
अनेकार्थ मनानार्थ मनागम मनिर्गमम् ॥

यःप्रतीत्य समुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम् ।
देशयामास संबुद्ध स्तं बन्दे द्विपदां वरम् ॥१॥

भावार्थ—शिवरूप परम तत्व का उपदेश करने वाले सर्व श्रेष्ठ-बुद्ध भगवान को नमस्कार हो। परमतत्व, उत्पत्ति और विनाश वाला भी नहीं, तथा उसको स्थिर अथवा नित्य कह सकें ऐसा भी नहीं, एवं अस्थिर अथवा विनाशशील भी नहीं और उसे एक अथवा अनेक भी नहीं कह सकते एवं वह गमागम [आना अथवा जाना] से भी रहित है। तात्पर्य कि छै कल्पों में से एकान्ततया कोई भी उस परमतत्व में संघटित नहीं हो सकता इसके सिवाय माध्यमिक कारिका का एक और पाठ देखिये। बुद्धों के उपदेश का सार बतलाते हुए महामति नागार्जुन लिखते हैं—

"आत्मेत्यपि प्रज्ञपित मनात्मेत्यपि देशितम्"।
"बुद्धैर्नात्मा नचानात्मा कश्चि दित्यपि देशितम्" ॥

अर्थात्—बुद्धों ने (बुद्ध भगवान् ने)—आत्मा है ऐसा उपदेश भी किया है तथा अनात्मा है ऐसा उपदेश भी दिया है। एवं आत्मा भी नहीं और अनात्मा भी नहीं ऐसा भी कहा है इत्यादि।

बुद्ध भगवान् के इस उपदेश की संगति, अपेक्षावाद के सिद्धान्त का अनुसरण किये बिना कभी नहीं हो सकती।

" आत्मा है भी, और नहीं भी "यह कथन विला किसी रुकावट के अपनी सिद्धि के लिये अपेक्षावाद का आह्वान कर रहा है ! तथा परम सत्य के विषय में—वह स्थिर भी नहीं और अस्थिर भी नहीं तथा नित्य भी नहीं और अनित्य भी नहीं—इत्यादि जो कुछ लिखा है वह भी निषेधरूप से अनेकान्त का ही समर्थक है। इन शब्दों का यही अर्थ युक्ति संगत है कि वह–परमतत्व–एकान्ततया स्थिर अथवा अस्थिर नहीं तथा एकान्तरूप से नित्य अथवा अनित्य नहीं। उक्त छै विकल्पों की एकान्तसत्ता का निषेध करना ही बुद्ध भगवान् को अभीष्ट है अन्यथा परमतत्त्व में पदार्थत्व ही कभी नहीं बन सकता। वस्तुतस्तु बौद्धों ने परमतत्व का जो स्वरूप बतलाया है वह वेदान्तियों के अनिर्वचनीय शब्द के ही समान प्रतीत होता है। तब, इसका यह सार निकला कि बौद्धदर्शन का तत्वविचार भी अपेक्षावाद के अवलम्बन बिना अपनी सिद्धि में अपूर्ण है। इसलिये उसने भी अपेक्षावाद को अपने घर में उचित स्थान दिया।

[अनिर्वचनीय शब्द अनेकान्तवाद का पर्याय वाची है]

१ शांकर वेदान्त में प्रपंचकारणीभूत माया के स्वरूप को अनिर्वचनीय बतलाया है। जिसका किसी प्रकार से निर्वचन न

---

(१) *सर्वज्ञेश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्या मनिर्वचनीये संसार प्रपंच बीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरितिच श्रुति स्मृत्योरभिलप्येते।*

(ब्रह्म सू० शां० भा० २। १। १४)

हो सके उसको अनिर्वचनीय कहते हैं। अर्थात् भावरूप से या अभावरूप से, भेदरूप से अथवा अभेदरूप से, इत्यादि प्रकारों में किसी प्रकार से भी जिसका वर्णन न किया जाय वह पदार्थ अनिर्वचनीय कहाता है। शंकर स्वामी माया अथवा प्रकृति को इसी रूप में देखते हैं।

"तत्वान्यत्वाभ्या मनिर्वचनीये"। अर्थात् यह माया ब्रह्म से एकान्त भिन्न "अन्य" नहीं है तात्पर्य कि स्वतंत्र कोई वस्तु नहीं है किन्तु एक प्रकार से यह ब्रह्म की ही आत्मभूत शक्ति है। तथा यह मायाशक्ति परिणामिनी अथच जड़ स्वरूपा है और ब्रह्म अपरिणामी और चेतन है इसलिये यह मायाशक्ति और ब्रह्म दोनों अभिन्न वा एक भी नहीं हो सकते। एवं भिन्नाभिन्न भी नहीं क्योंकि भेदाभेद का आपस में विरोध है इसलिये वह अनिर्वचनीय है। हमारे विचार में तो शंकर स्वामी के उक्त कथन का यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि ब्रह्म की आत्मभूत इस मायाशक्ति को ब्रह्म से एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न नहीं बतलाया जा सकता। इससे माया के एकान्त भेद और एकान्त अभेद स्वरूप का निषेध होकर उसके अनेकान्त स्वरूप [कथंचित् भेदाभेद रूप] का ही बोध होता है। यदि उसके अनेकान्त स्वरूप का भी सर्वथा निषेध कर दिया जाय तब तो उसे किसी प्रकार से पदार्थ कहना अथवा मानना भी बड़ी भारी भूल है। तथा वह ब्रह्म की× शक्ति भी सिद्ध नहीं हो

× प्रकृतिस्तु साम्यावस्थापन्न-सत्वरजस्तमो गुणमयी अव्याकृत नाम रूपा पारमेश्वरी शक्तिः। (वेदान्त परिभाषा-प्रत्यक्ष परिच्छेद की टीका)

सकती। माया की ब्रह्म से अतिरिक्त कोई स्वतंत्र + सत्ता नहीं किन्तु ब्रह्म सत्ता में ही उसकी सत्ता है। अतः वह ब्रह्म का ही स्वरूप है इस दृष्टि से माया के साथ ब्रह्म का अभेद है—माया और ब्रह्म दोनों एक हैं। और वह–माया परिणामि और विकारी जगत का कारण होने से स्वयं विकृति और परिणति से युक्त है तथा जड़ है और ब्रह्म अविकारी और चेतन स्वरूप होने से इससे (माया से) विलक्षण है और इसी के आश्रय से ब्रह्म में जगत् का *कर्तृत्व है इससे ये दोनों परस्पर में विभिन्न हैं इस दृष्टि से इसका भेद है माया को ब्रह्म से यदि किसी प्रकार भी भिन्न न माना जाय तो माया की भांति ब्रह्म भी परिणामी अथच विकारी सिद्ध होगा तथा ब्रह्म की अपेक्षा विवर्त और माया की अपेक्षा परिणाम,

---

+ (क) नहि आत्मनोऽन्यत अनात्मभूतंतत्............अतो नाम रूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती......इति ते तदात्मके उच्येते।

(तै० उ० शां० भा० २। ६। २)

(ख) जड़प्रपंचस्यागन्तुक तया स्वतः सत्ता भावात इत्यदि।

(उपदेश सहस्री)

† अचिन्त्य शक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा।
अविक्रिय ब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा॥ (पंचदशी १३)

* परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते नस्वतंत्रा साचावश्यमभ्युपगंतव्या। अर्थवतीहिसा नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्यनुपपत्तेः। इस कथन से माया की स्वीकृति को शंकर स्वामी ने नितान्त आवश्यक बतलाया है। अतः वह पदार्थ अवश्य है। (ब्र० सू० भा० १। ४। ३)

इस प्रकार विवर्त और परिणामवाद का अंगीकार× भी इनके पारस्परिक भेद का ही बोधक है तथा **"अर्थवतीहिंसा"** इत्यादि भाष्यगत लेख से उसमें किसी प्रकार से स्वतंत्रता का भी बोध होता है क्योंकि यदि "माया" न हो तो ब्रह्म, सृष्टि ही नहीं रच सकता **"नहि तया बिना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति"**। शक्ति-सामर्थ्य के बिना वह क्या कर सकेगा (शक्ति रहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः) इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म की आत्मभूत मायाशक्ति की भी कोई स्वतंत्रसत्ता किसी न किसी रूप में है अतः वह माया ब्रह्म से भिन्न भी है। इस प्रकार माया में भेद अथच अभेद दोनों ही प्रामाणिक रूप से उपलब्ध होते हैं और दोनों ही स्वीकृति के योग्य हैं। अब रही भेदाभेद के परस्पर विरोध की बात + सो इसका उत्तर तो

× अविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्यापेक्षया विवर्त्तः।

(वे० परि भा० प्र० परिच्छेद)

इसके सिवाय वेदान्त परिभाषा में ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान उपादान और माया को परिणामी उपादान बतला कर उनकी भिन्न २ लक्षणों द्वारा अनेकता विभिन्नता सिद्ध की है।

+हमारे ख्याल में तो—

न्यायात् खलु विरोधो यः सविरोध इहोच्यते।
यद्वदेकान्त भेदादौ तयोरेवाप्रसिद्धितः॥ (हरिभद्रसूरि)

न्याय से जो विरोध उपलब्ध हो उसी को वस्तुतः विरोध कह सकते हैं जैसे कि धर्म धर्मी और गुणगुणी आदि को एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न मानने में है अर्थात् विरोध की उपस्थिति है। क्योंकि

माया से ही पूछना चाहिये ? अथवा जिस सर्वज्ञ परमात्मा की वह शक्ति मानी जाती है उससे पूछना चाहिये ? कि उसने स्वशक्तिभूत माया का इस प्रकार का स्वरूप क्यों बनाया जो कि वह (माया) ब्रह्म की आत्म भूत होते हुये भी उससे अलग और भिन्न होते हुये भी अभिन्न रूप से रहती है। इसका उत्तर हम कुछ नहीं दे सकते कि अग्नि में दाहशीलता क्यों है पदार्थों का स्वरूप ही ऐसा है कि वे अनेकानेक विरोधी धर्मों की सत्ता को सापेक्षतया अपने में धारण किये हुये हैं। माया रूप पदार्थ भी इसी प्रकार का है उसमें भी अपेक्षाकृत भेद दृष्टि से भेदाभेद दोनों ही रहते हैं। तथा भेद और अभेद के विषय में जो विरोध की सम्भावना की जाती है वह केवल शाब्दिक है इनमें (भेद और अभेद में) आर्थिक विरोध बिलकुल नहीं है। तब माया को अनिर्वचनीय क्यों कहा ? इसका उत्तर यही है कि उसका-माया का-एकान्ततया-सर्वथा भाव रूप से वा अभाव रूप से निर्वचन-नहीं हो सकता अथवा यूं कहिये कि सर्वथा भेद रूप से अथवा अभेद रूप से ही उसका कथन नहीं किया जा सकता इसलिये वह माया अभिर्वचनीय कहलाती है। बौद्धों के परम सत्य के विषय में भी यही न्याय समझना चाहिये। उसमें भी एकान्त-तया, नित्यानित्यत्व आदि धर्मों का निषेध अभिप्रेत है अन्यथा परम सत्य पदार्थ की सत्ता ही साबित नहीं हो सकती। इसलिये

इनका एकान्त भेद भी नहीं बन सकता और अभेद भी सिद्ध नहीं होता इसलिये यहां पर तो विरोध अवश्य है। भेदाभेद का सह अवस्थानतो अनुभव सिद्ध है।

बौद्धों के परमतत्व और वेदान्तियों के अनिर्वचनीय शब्द की जो व्याख्या अथवा स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है उसका सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने पर उनमें अनेकान्तवाद का ही सम्पूर्णतया दर्शन होता है अतः अनिर्वचनीय शब्द अनेकान्तवाद का ही समानार्थ वाची शब्द है ऐसा हमें प्रतीत होता है।

[एक भ्रम की निवृत्ति]

स्याद्वाद के विषय में बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि एक वस्तु में विरुद्ध धर्मों की सत्ता को प्रतिपादन करने का नाम स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद है। परन्तु यह उनका भ्रम है इसी भ्रम के कारण उन्होंने स्याद्वाद के ऊपर बड़े तीव्र प्रहार किये हैं वास्तव में नाना विरुद्ध धर्मों का एक स्थान में विधान या प्रतिपादन करने का नाम स्याद्वाद नहीं किंतु, वस्तु में अपेक्षा भेद से उनके-विरोधि धर्मों के-अविरोध को साबित करने वाली पद्धिति का नाम स्याद्वाद वा अनेकान्तवाद है ऐसा ही जैन विद्वानों का मानना है ❋ इस लिये अपेक्षाकृत दृष्टिभेद से वस्तु में नित्यानित्यत्व आदि अनेक विरोधि धर्म अपनी सापेक्ष सत्ता को

❋ *नह्येकत्र नाना विरुद्ध धर्म प्रतिपादकः स्याद्वादः किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोध द्योतक स्यात् पद समभिव्याहृत वाक्य विशेष इति।*

(उपाध्यायदशो विजय। न्याय खंडखाद्य श्लो० ४१ की व्याख्या)

प्रमाणित करते हुये उसको (वस्तु को) नित्यानित्यादि स्वरूप में ही उपस्थित करते हैं।

[उपसंहार]

प्रिय सभ्य पाठकगण! जैनदर्शन का अनेकान्तवाद किस प्रकार का है तथा अनुभव, उसकी प्रामाणिकता को किस प्रकार से साबित कर रहा है, एवं भारतीय दर्शनशास्त्रों—दार्शनिक ग्रन्थों—में उसको—अनेकान्तवाद को—कहां और किस रूप में स्थान दिया है इत्यादि बातों को हमने यथामति यथाशक्ति आपके सामने प्रस्तुत कर दिया है। प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाली जितनी प्रमाण सामग्री हमको दार्शनिक ग्रंथों में मिली उतनी का हमने उल्लेख कर दिया। इस विषय में हमारा विचार तो यही है कि जैन दर्शन का अनेकान्तवाद संदेहात्मक अथवा अनिश्चयात्मक नहीं किन्तु अनुभव के अनुसार यथार्थ रूप से वस्तु स्वरूप का निर्णय करने वाला एक सुनिश्चित सिद्धान्त है। जबकि अनुभव ही वस्तु में एकान्तत्व का निषेध करके उसमें अनेकान्तता का व्यवस्थापन कर रहा हो तब जैन दर्शन का इसमें क्या दोष? अनुभव के विरुद्ध वस्तु स्वरूप का स्वीकार करना कभी उचित नहीं समझा जा सकता ×। इसलिये किसी

× *अनुभव एवहि धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयति .... अनुभवानुसारिणोवयं न तमतिवर्त्य स्वेच्छया धर्माननुभवान् व्यवस्थापयितु मर्हामहे।* [वाचस्पतिमिश्र]

साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण, अनेकान्तवाद को अनिश्चयवाद वा संदेहवादके नामसे वर्णन करके उसके संस्थापकों का उपहास करना निस्संदेह एक जीता जागता अन्याय है। एवं अनेकान्त-वाद, मात्र जैन दर्शन का ही सिद्धान्त नहीं [जैन दर्शन ने इसको अधिक रूप से अपनाया यह बात दूसरी है] किन्तु दर्शनान्तरों में भी इसे वस्तु व्यवस्था के लिये-कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं अस्पष्ट रूप से-आदरणीय स्थान अवश्य मिला है इत्यादि। तथा हमारा यह प्रयास अनेकान्तवाद प्रधान जैन दर्शन की प्रशंसा और एकान्तवादी दर्शनों की अवहेलना के लिये नहीं किन्तु वस्तु का आनुभविक स्वरूप अनेकान्त अथवा सापेक्ष है और इसी स्वरूप में उसकी सर्वत्र उपलब्धि होती है इसके प्रतिकूल, सर्वथा एकान्त अथवा निरपेक्ष स्वरूप से वस्तुस्वरूप का अंगीकार करना, (यह निर्णय)-वस्तु के वास्तविक स्वरूप से विरुद्ध और उसके वस्तुत्व का व्याघातक है। इस प्रकार सामान्य रूप से निरूपण किये जाने वाले, जैन दर्शन के अनेकान्तवाद सिद्धान्त को-अन्यान्य दार्शनिक विद्वानों ने भी तत्वार्थ व्यवस्था के लिये शुद्ध वा विकृत स्वरूप, नाम अथवा नामान्तर से शब्द रूप में या अर्थ रूप में अवश्य स्वीकार किया है। अतः अनेकान्तवाद अथवा अपेक्षावाद-केवल जैन दर्शन का ही मुख्य सिद्धान्त नहीं है। दर्शनान्तरों का भी इस पर अधिकार है इतना तत्व समझा देने की खातिर ही हमारा यह अल्प प्रयास है।

इसके सिवाय हमारी परिमार्जित धारणा तो यह है कि यथार्थ एकान्त और अनेकान्तवाद के सभी दर्शन पक्षपाती हैं।

तथा अयथार्थ–मिथ्या एकान्त और अनेकान्तवाद के सभी विरोधी हैं ? जैन दर्शन भी अनेकान्तवाद को अनेकान्त रूप से ही स्वीकार करता× है एकान्त रूप से नहीं। अतः वह भी सम्यक् एकान्तवाद का पक्षपाती और मिथ्या अनेकान्तवाद का विरोधी

×(क) अनेकान्तस्याप्यनेकान्तानुविद्धैकान्तगर्भत्व-तदुक्तम् "भयणा विहु भइयव्वा जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं। एवं भयणा नियमो वि होइ समया विराहणया"। (भजनापि खलु भक्तव्या यथा भजना भजति सर्व द्रव्याणि) एवं भजनानियमोऽपि भवति समयाविराधनया।

(स्याद्वाद कल्पलता टी० शा० वा० स० स्त० ७ पृ० २२३)

(ख) नचैव मेकान्ताभ्युपगमादनेकान्तहानिः, अनेकान्तस्य सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्। अन्यथा नेकान्तस्यैवाघटनात्। नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणाद नेकान्तस्यै वोपदेशात्, तथैव दृष्टेष्टाभ्या मविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः।

(षड्दर्शन समुच्चय टी० गुणरत्नसूरि श्लो० ५७ पृ० ६४)

(ग) नचैव मेकान्तोपगमे कश्चिद्दोषः सुनयार्पितस्यैकान्तस्य समीचीनतयास्थितत्वात्।............येनात्मना नेकान्तस्तेनात्मना नेकान्त एवेत्येकान्तानुषंगोपि ना निष्टः प्रमाण साधनस्यैवानेकान्तत्व सिद्धेः। नय साधनस्यैकान्तत्व व्यवस्थिते रनेकान्तोप्यनेकान्त इति प्रतिज्ञानात्। तदुक्तम्—

अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाण नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

(प्रमाण नयैरधिगमः। १। ६ सूत्रे तत्वार्थ श्लोक वार्तिकालंकारे विद्यानंद स्वामी। पृ० १४०)

है। इस लिये सम्यक् एकान्त और सम्यक् अनेकान्तवाद में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है।

प्रस्तुत विषय में हमारे जो विचार थे उनको हमने संक्षेप रूप से इस निबन्ध में यथामति दर्शा दिया है और तदुपयोगी संकलित सामग्री को भी उपस्थित कर दिया है। आशा है विवेक शील पाठक हमारे इन विचारों का मध्यस्थ दृष्टि से अवलोकन करते हुए हमारे इस अल्प परिश्रम को सफल करेंगे। शुभम्।

विनीत—**हंस**

[परिशिष्ट प्रकरण]

(क) विभाग—

[दर्शनों के आधार ग्रन्थों में अनेकान्तवाद]

न ग्रंथों का आधार लेकर दर्शन शास्त्रों की सृष्टि हुई है उनमें भी रूपान्तर से अनेकान्तवाद—अपेक्षावाद—का मूल उपलब्ध होता है। सभी वैदिक दर्शनों के प्रमाण भूत, मूल आधार वेद उपनिषद् और गीता हैं इनके सिवाय महाभारत और पुराण ग्रंथों का भी कहीं कहीं पर प्रमाण रूप से उल्लेख + है। श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् और मूल ऋग्वेदादि संहिता ग्रंथों के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उनमें ब्रह्म के स्वरूप का जिस रूप में निरूपण किया है वह स्वरूप एकान्त नहीं किन्तु अनेकान्त है। वैदिक साहित्य के सब से प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ ऋग्वेद में सृष्टि के मूल कारण ब्रह्म को सत् असत् से भिन्न बतलाते हुए अन्यत्र उसको सत् भी कहा है और असत् भी बतलाया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में—

+ देखो विज्ञान भिक्षु और श्रीकंठ शिवाचार्य आदि के भाष्यों का लेख जो पीछे दिया जा चुका है।

"ना सदासी न्नो सदासीत्तदानीं"

(ऋ० मं० १० सूत्र० १२९ मं० १) उस काल में सत् भी नहीं था और असत् भी न था अर्थात् जो नहीं वह उस वक्त नहीं था और जो है वह भी उस समय नहीं था। किंतु सदसत् रूप केवल ब्रह्म ही अवस्थित था।

"नाम रूप रहितत्वेन "असत्" शब्द वाच्यं "सत् एवावस्थितं परमात्म तत्वम्"

[तैत्तरीय ब्राह्मण २।१।९।१] तथा अन्यत्र सत् और असत् रूप का इस प्रकार वर्णन आता है।

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"

[ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ४६] उस एक ही सत् का विद्वान लोग अनेक प्रकार से कथन करते हैं।

"देवानां पूर्वे युगे असतः सद जायत्"

(ऋ० मं० १० सू० ७२ मं० ७)

देवताओं से भी प्रथम असत्-(अव्यक्त ब्रह्म) से सत् (व्यक्त-संसार) की उत्पत्ति हुई। इस कथन से ब्रह्म में सत् और असत् दोनों शब्दों का विधान भी देखा जाता है और सत् असत् का उसमें निषेध भी दृष्टिगोचर होता है यह कथन उपरा उपरी देखने से यद्यपि विरुद्ध सा प्रतीत होता है तथापि इसकी उपपत्ति अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार भली भांति हो सकती है। यह कथन सापेक्ष है अपेक्षा कृत भेद को लेकर ही ब्रह्म में असत् और सत् शब्द का उल्लेख है। कहीं पर तो इन शब्दों का

ब्रह्म के व्यक्ताव्यक्त स्वरूप का बोध कराने के निमित्त किया गया है और कहीं पर अव्यक्त स्वरूप में सगुण निर्गुण स्वरूप का भान कराने के लिये है, और कहीं पर केवल निर्गुण स्वरूप बोधनार्थ सत् और असत् से विलक्षणता का उल्लेख है। इसी आधार से उपनिषदों में तथा भगवद्गीता में अनेक जगह पर ब्रह्म को सद्रूप से असद्रूप से और सदसद्रूप से उल्लेख करके सत् और असत् उभय से विलक्षण भी बतलाया है। भगवद्गीता और उपनिषदों में आने वाले इस प्रकार के विरुद्ध वाक्यों का समन्वय बिना अपेक्षावाद का अवलम्बन किये कदापि नहीं हो सकता। अमुक वाक्य इस तात्पर्य को लेकर लिखा गया है, अमुक वाक्य, यहां पर इस अभिप्राय से विहित हुआ है, यह कथन परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का बोध कराता है और इस कथन से उसकी सगुणता अभिप्रेत है इत्यादि रूप से जो विद्वान् विरोध का परिहार अथवा विरोधी वाक्यों की एक वाक्यता या समन्वय करते हैं यही अपेक्षावाद के सिद्धान्त का अर्थत: आलम्बन या अनुसरण है। हमारे ख्याल में जैन विद्वान उपाध्याय यशो विजय ने ठीक ही कहा है—

"बुवाणा भिन्न भिन्नार्थान् नय भेद व्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदा: स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम्॥

[नयोपनिषत्]

अर्थात् अपेक्षाकृत भेद को लेकर पदार्थ का भिन्न भिन्न रूप से प्रतिपादन करने वाले, वेद (उपनिषद् आदि) भी स्याद्वाद के प्रतिषेधक नहीं हैं।

भगवद्गीता और उपनिषदें ।

प्रकृति और पुरुष के भी परे जो पुरुषोत्तम परमात्मा या परब्रह्म है उसका वर्णन करते समय भगवद्गीता में पहले उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं, यथा व्यक्त और अव्यक्त (आंखों से दिखने वाला और आँखों से न दिखने वाला) इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्त स्वरूप अर्थात् इन्द्रियगोचर रूप सगुण ही होना चाहिये और अव्यक्त रूप यद्यपि इन्द्रियों को अगोचर है तो भी इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि वह निर्गुण ही है क्योंकि यद्यपि वह हमारी आंखों से न देख पड़े तो भी उसमें सब प्रकार के गुण सूक्ष्म रूप से रह सकते हैं इसलिये अव्यक्त के भी तीन भेद किये हैं, जैसे सगुण, सगुण-निर्गुण और निर्गुण । यहाँ "गुण" शब्द में उन सब गुणों का समावेश किया गया है कि जिनका ज्ञान मनुष्य को केवल उसकी बाह्येन्द्रियों से ही नहीं होता किन्तु मन से भी होता है । परमेश्वर के मूर्तिमान अवतार भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् अर्जुन के सामने खड़े होकर उपदेश कर रहे थे, इसलिये गीता में जगह जगह पर उन्होंने अपने विषय में प्रथम पुरुष का निर्देश इस प्रकार किया है— जैसे, " प्रकृति मेरा रूप है " [९।८] "जीव मेरा अंश है" [१५।७) "सब भूतों का अन्तर्यामी आत्मा मैं हूँ" [१०।२०] संसार में जितनी श्रीमान् या विभूतिमान् मूर्तियां हैं वे सब मेरे अंश से उत्पन्न हुई हैं [१०।४१] मुझ में मन लगाकर मेरा भक्त हो [९।३४]·············मैं ही ब्रह्म का, अव्यय मोक्ष का,

शाश्वत धर्म का और अनन्त सुख का मूल स्थान हूँ [गी० १४।२७] इससे विदित होगा कि गीता में आदि से अन्त तक अधिकांश में परमात्मा के व्यक्त स्वरूप का ही वर्णन किया गया है।

इतने ही से केवल भक्ति के अभिलाषी कुछ पंडितों और टीकाकारों ने यह मत प्रगट किया है कि गीता में परमात्मा का व्यक्तरूप ही अन्तिम साध्य माना गया है। परन्तु यह मत सच नहीं कहा जा सकता, × क्योंकि उक्त वर्णन के साथ ही भगवान् ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है और उसके परे जो अव्यक्त रूप अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर है वही मेरा सच्चा स्वरूप है।..................................

....

....

इतनी बात यद्यपि स्पष्ट हो चुकी कि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप व्यक्त नहीं अव्यक्त है तथापि थोड़ा सा यह विचार होना भी आवश्यक है कि परमात्मा का यह श्रेष्ठ अव्यक्त स्वरूप सगुण है या निर्गुण। जब कि सगुण अव्यक्त का हमारे सामने यह एक उदाहरण है कि सांख्य शास्त्र की प्रकृति अव्यक्त (अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर) होने पर भी सगुण अर्थात्

(×) पाठक! देखें यह कथन एकान्त पक्षका कैसा स्पष्ट विरोधी है अर्थात् जो लोग परमात्मा को एकान्ततया सर्वथा व्यक्त रूप से ही मानते हुए उसके अव्यक्त स्वरूप का निषेध करते हैं वे एकान्ततया व्यक्तरूप के पक्षपाती होने से उनका पक्ष ठीक नहीं है यह उक्त कथन से दर्शाया है।

सत्व रजतम गुणमय है, तब कुछ लोग यह कहते हैं कि परमेश्वर का अव्यक्त और श्रेष्ठ रूप भी उसी प्रकार सगुण माना जावे। अपनी माया से क्यों न हो परन्तु जब वही अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त-सृष्टि निर्माण करता है [गी. ९।८] और सब लोगों के हृदय में रहकर उनके सारे व्यवहार करता है [१८।६१]······

तब तो यही बात सिद्ध होती है कि वह अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर भले ही हो तथापि वह दया, कर्तृत्वादि गुणों से युक्त अर्थात् सगुण अवश्य ही होगा। परन्तु इसके विरुद्ध भगवान् ऐसा भी कहते हैं कि "*नमांकर्माणि लिंपन्ति*" मुझे कर्मों का अर्थात् गुणों का कभी स्पर्श नहीं होता [४।१४] प्रकृति के गुणों से मोहित होकर मूर्ख लोग आत्मा ही को कर्ता मानते हैं [३।२७।१४।१९] अथवा यह अव्यय और अकर्ता परमेश्वर ही प्राणियों के हृदय में जीवरूप से निवास करता है [१३।३१] और इसीलिये यद्यपि वह *प्राणियों* के कर्तृत्व और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है तथापि अज्ञान में फंसे हुए लोग मोहित हो जाया करते हैं [५।१४।१५] इस प्रकार अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर परमेश्वर के रूप—सगुण और निर्गुण—दो तरह ही के नहीं हैं प्रत्युत इसके अतिरिक्त कहीं कहीं इन दोनों रूपों को एक मिलाकर भी अव्यक्त परमेश्वर का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—"*भूतभृत् नच-भूतस्थो*" [९।५] मैं भूतों का आधार होकर भी उनमें नहीं हूँ, " परमात्मा न तो सत् है और न असत् "× [१३।१२]

× *अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।*

सर्वेन्द्रियवान होने का जिसमें भास हो परन्तु " जो सर्वेन्द्रिय रहित है। और निर्गुण होकर गुणों का उपभोग करने वाला है† [१३।१४] " दूर है और समीप भी है ,,❀ [१३।१५] "अविभक्त है और विभक्त भी देख पड़ता है" + [१३।१६] इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का सगुण निर्गुण मिश्रित अर्थात् परस्पर विरोधी वर्णन भी किया गया है।

....

भगवद्गीता की भांति उपनिषदों में भी अव्यक्त परमात्मा का स्वरूप तीन प्रकार का पाया जाता है—अर्थात् कभी सगुण कभी उभयविधि यानी सगुण निर्गुण मिश्रित और कभी केवल निर्गुण।

....

....

............भगवद् गीता के समान ही परस्पर विरुद्ध गुणों को एकत्र कर ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि ब्रह्म सत्

---

† सर्वेन्द्रिय गुणाभासं, सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
'असक्तं सर्वभृच्चैव' निर्गुणं गुणभोक्तृच॥

❀ वहिरन्तश्च भूताना मचरं चरमेवच।
सूक्ष्मत्वाद विज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत्।

+ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिषच स्थितम्।

नहीं और असत् भी नहीं* (ऋ० १० । १२९ । १) अथवा "*अणोरणीयान् महतो महीयान्*" अर्थात् अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है (कठ० २ । २०) "*तदेजाति तन्नैजति तत् दूरे तद्वांतिके*" अर्थात् वह हिलता है और हिलता भी नहीं, वह दूर है और समीप भी है (ईशा० ५ मुं० ३ । १।७) "अथवा" सर्वेन्द्रिय गुणाभास होकर भी सर्वेन्द्रिय विवर्जित है (श्वेता० ३ । १७) (इत्यादि)........................
....

उपर्युक्त वचनों से यह प्रकट होता है कि न केवल भगवद्-गीता में ही वरन् महाभारतान्तर्गत नारायणीय या भागवत में और उपनिषदों में भी परमात्मा का अव्यक्त स्वरूप ही व्यक्त स्वरूप से श्रेष्ठ माना गया है और यही अव्यक्त श्रेष्ठ स्वरूप वहां तीन प्रकार से वर्णित है अर्थात् सगुण सगुण-निर्गुण और अन्त में केवल निर्गुण इत्यादि + ।

ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप विषय में भगवद्गीता और उपनिषदों का यह सार है जो ऊपर प्रदर्शित किया गया है भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अर्जुन ! सत् और असत् दोनों मैं ही हूं (†) तथा तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म का प्रतिद्वन्द्वात्मक

(*) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं

(+) लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २०३ से २०९ तक ।

(†) "सदसच्चाहमर्जुन" (गी० अ० ९ श्लो० १९)

शब्दों में ही वर्णन किया है (§) इससे प्रतीत हुआ कि गीता और उपनिषदों को ब्रह्म का एकान्त स्वरूप अभिमत नहीं किन्तु उनके मत में ब्रह्म, का स्वरूप व्यक्त, अव्यक्त सगुण, सगुण-निर्गुण और निर्गुण आदि रूप से अनेकान्त ही निर्णीत है। अपेक्षाकृत भेद से ब्रह्म में उक्त सभी विरोधी गुणों का समावेश सुकर है। इसी अभिप्राय से ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का प्रतिद्वन्द्वात्मक शब्दों में वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त पुराणों में भी ईश्वर के सगुण निर्गुण स्वरूप का वर्णन है इस वर्णन में भी अपेक्षावाद के सिद्धान्त की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। उदाहरण के लिये कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

ब्रह्मैकं मूर्तिभेदस्तु, गुणभेदेन सन्ततम्।
तद्ब्रह्म द्विविधं वस्तु, सगुणं निर्गुणंतथा ॥१॥

मायाश्रितो यः सगुणो, मायातीतिश्च निर्गुणः।
स्वेच्छामयश्चभगवान्निच्छया विकरोतिच ॥२॥

इच्छा शक्तिश्च प्रकृतिः सर्व शक्तिः प्रसूः सदा।
तत्र सक्तश्चसगुणः, सशरीरी च प्राकृतः ॥३॥

निर्गुणस्तत्र निर्लिप्तः अशरीरी निरंकुशः।
सचात्मा भगवान्नित्यः, सर्वाधारः सनातनः ॥४॥

(§) तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चा निलयनं च सत्यंचानृतं च इत्यादि। (ब्रह्मवल्ली २ अनुवाक ६)

सर्वेश्वरः सर्वसाक्षी, सर्वत्रास्ति फलप्रदः ।
शरीरं द्विविधं शम्भो-र्नित्यं प्राकृतमेव च ॥५॥
नित्यं विनाश रहितं नश्वरं प्राकृतं सदा× ।

भावार्थ—ब्रह्म यद्यपि एक है परन्तु गुण भेद से उसके स्वरूप में भेद है इस लिये ब्रह्म रूप वस्तु दो प्रकार की है। एक सगुण दूसरी निर्गुण, माया संयुक्त तो वह ब्रह्म सगुण कहलाता है और माया रहित को निर्गुण कहते हैं। संसार को उत्पन्न करने वाली, भगवान् की इच्छा शक्ति ही प्रकृति है। वह भगवान् से भिन्न नहीं है। उस प्रकृति से संयुक्त हुआ भगवान् सगुण, शरीरी अथच प्राकृत कहलाता है, उसमें निर्लिप्त हुआ वह निर्गुण अशरीरी और निरंकुश—स्वतन्त्र—माना जाता है। परमात्मा के नित्य अथच प्राकृत ये दो स्वरूप हैं। उनमें जो नित्य शरीर है वह तो अविनाशी—विनाश रहित है और जो प्राकृत है, उसका विनाश हो जाता है।

ब्रह्म वैवर्त पुराण का यह लेख भगवान् को सगुण, निर्गुण शरीरी, अशरीरी मित्य और प्राकृत रूप से बोधन करता हुआ उसमें अनेक रूपता को सिद्ध कर रहा है परन्तु यह अनेक रूपता अपेक्षाकृत भेद का आश्रय लिये विना किस प्रकार संगत हो सकती है? जो सगुण है वह निर्गुण कैसे? जो शरीरी वह अशरीरी किस प्रकार कहा जाय? क्योंकि इनमें विरोध है। तब

× (ब्रह्म वैवर्त पुराण श्रीकृष्ण खण्ड अध्याय ४३)

इसके समाधानार्थ यही कहना होगा कि माया की अपेक्षा वह सगुण और शरीरी, और केवल स्वरूप की अपेक्षा से उसे निर्गुण अथच अशरीरी कहते हैं। इसलिये अपेक्षा भेद से वह शरीरी भी है सगुण भी है निर्गुण और अशरीरी भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार उसके नित्यानित्य स्वरूप की भी अपेक्षाकृत भेद से उपपत्ति हो सकती है। मायिक स्वरूप की अपेक्षा वह अनित्य और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा नित्य है इस भांति उसके नित्यानित्य शरीर विपयिणी विरुद्ध उक्ति का समाधान भी सुकर है।

इस सारी विवेचना से यह प्रमाणित हुआ कि ब्रह्म का स्वरूप भी अनेकान्त है सर्वथा एकान्त नहीं "*अनेकरूप रूपाय विष्णवे प्रभ विष्णवे*" (विष्णु सहस्र नाम)।

[महाभारत में अनेकान्तवाद]

जैनधर्म के सिद्धान्त रूप अनेकान्तवाद—सप्तभंगी नयवाद—का महाभारत में कई स्थानों में उल्लेख किया है× परन्तु वह कथन अनेकान्तवाद के समर्थन में उपयुक्त नहीं किया जा सकता वह तो स्वीकृत सिद्धान्त का अनुवादमात्र समझा जा सकता है इसलिये प्रस्तुत विषय में वह उपयोगी नहीं हो सकता, परन्तु इसके

(×) देखो महाभारत शांति पर्व अध्याय २३८ श्लोक ६—

एतदेवं च नैवं च नचोभे नानुभेतथा ।
कर्मस्था विषयं ब्रयुः सत्वस्थाः समदर्शिनः ॥

सिवाय महाभारत में कहीं कहीं पर ऐसा लेख भी है जिस पर से ग्रन्थकर्त्ता का ही प्रस्तुत विषय में स्वतन्त्रतया आशय प्रगट होता है। शिष्य प्रश्न के बाद—

गुरुः—"यो विद्वान् सह संवासं विवासं चैव पश्यति।
तथैवैकत्व नानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते॥ (१)

अर्थात्—जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा—एकत्व और नानात्व को देखता है वह दुःख से छूट जाता है।

इस श्लोक में चेतन और जड़ जीव और परमात्मा के भेदाभेद और एकत्व नानात्व का उल्लेख स्पष्ट है। चेतन जड़ का क्षीर नीर की भांति मिश्रण रूप अभेद सम्प्रज्ञात में और पृथकत्व—भेद पदार्थ दर्शन में तथा जीव का ब्रह्म के साथ अभेद परमार्थ दशा में और भिन्नता व्यवहार दृष्टि में ऐसा टीकाकार का कथन है× इस प्रकार भेदाभेद और एकत्व नानात्व को देखना ही मानो दुःख की निवृत्ति का उपाय है ऐसा इस श्लोक का अभिप्राय है इससे भेदाभेद और एकत्व नानात्व दोनों ही चेतन और जड़ में अपेक्षा कृत भेद से विद्यमान हैं ऐसा स्फुटतया प्रमाणित हुआ।

---

(१) आश्वमेधिक पर्व [अनुगीता] अध्याय ३५ श्लो० १७।

× सह संवासं चिज्जड़योरेक लोलीभावं संप्रज्ञाते, विवासं तयोः॥ पृथक्त्वं शुद्धत्वं पदार्थ दर्शने। एकत्वं ईश्वरादभेदं तथैव। "नानात्वं तयोर्भिन्नत्वं व्यवहारे" [इति नीलकण्ठाचार्यः]

जैन दर्शन का भी इस विषय में प्राय: ऐसा ही सिद्धान्त है × इसके अतिरिक्त इसी विषय पर प्रथम लेख की अपेक्षा कुछ अधिक प्रकाश डालने वाला एक और लेख भी महाभारत में देखा जाता है। जो लोग क्षेत्रज्ञ और सत्व [आत्मा और प्रकृति] के वास्तविक भेद वा अभेद, एकत्व अथच नानात्व को एकान्ततया वास्तविक या प्रातीतिक ही मानते हैं उनका मत महाभारत के कर्त्ता को अभीष्ट नहीं है। उसके विचार में आत्मा और प्रकृति में एकान्त रूप से भेद अथवा अभेद का स्वीकार करने वाले दोनों ही अविवेकी हैं। आत्मा में स्वाभाविक रूप से कर्तृत्व

× (क) *नित्यानित्ये तथा देहाद्, भिन्नाभिन्ने च तत्वतः।*
घटन्त आत्मनि न्याया द्धिंसादी न्यविरोधतः॥

(हरिभद्र सुरि कृत अष्टक)

(ख) *मौनीन्द्रे च प्रवचने युज्यते सर्व मेव हि,*
नित्यानित्ये स्फुटं देहात् भिन्नाभिन्ने तथात्मनि ॥३८॥

(उ० यशोविजय कृत अध्यात्मसार पृ० १०३)

तथा देहात कथंचिद्‌भिन्नः चैतन्य रूप पृथक् सत्ता पेक्षया व्यतिरिक्तः मृतक शरीरे दृष्ट विभागत्वात्‌ तथा, कथं चिदभिन्नः क्षीर नीर वद्‌ वन्ह्ययः पिंडवच्च सकल शरीर व्यापित्वात सकचन्दनांगनादि कंटक खड्ग ज्वरादीष्टानिष्ट स्पर्शतः साता सातयोः शरीरेऽनुभूयमानत्वात्‌।

[टी० मु० गंभीर विजय]

(ग) *प्रमाणाद् भिन्नाभिन्नम् ।१।१ ४२*

[प्रमाण मीमांसायां हेमचन्द्राचार्य्याः]

भोक्तृत्वादि धर्मों का अंगीकार करने वाले नैयायिकों और इन कर्तृत्वादि गुणों को केवल प्रतीतिमात्र से आत्मा में स्वीकार करने वाले सांख्यों—सांख्य मतानुयायियों—में से किसी एक का भी एकान्त पक्ष उसे ग्राह्य नहीं है इन दोनों ही पक्षों में महाभारत के रचयिता को अपूर्णता प्रतीत होती है। इस लिये उसने आत्मा और प्रकृति में सापेक्षतया भिन्ना भिन्नत्व और एकत्व नानात्व, दोनों की सत्ता को यथार्थ माना है।

यथा— एतेनैवानुमानेन मन्यन्ते च मनीषिणः ।
सत्वं च पुरुषश्चैव तत्र नास्ति विचारणा ॥८॥
आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः ।
क्षेत्रज्ञ सत्वयो रैक्य मिति तन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥
पृथग्भूतं ततः सत्व मित्येतदविचारितम् ।
पृथगभावश्च विज्ञेयः सहजश्चापितत्त्वतः॥१०॥
तथैवैकत्व नानात्व, मिष्यते विदुषां नयः ।
मशकोदम्बरे चैक्यं, पृथक्त्व मपि दृश्यते ॥११॥

(x)—[आश्वमेधिकपर्व—अनुगीता—अध्याय ४८]

पुरुषवत् स्वच्छत्वात्पुरुषोपकारित्वाच्च सत्वं पुरुषाद्—भिन्नमिति मन्यन्ते तार्किकाः अतएवात्मनि सत्वधर्मान् कर्तृत्वादीन् वास्तवान् मन्यन्ते, इत्यतआह एतेनेतिद्वाभ्याम्। तत्रापि मन्यंते प्रातीतिकमेकत्वं सांख्यादयः, तार्किकास्तु तदेव वास्तव मित्याहु रितिविवेकः। एतद्दूषयति आहुरिति। सांख्यं प्रत्याह पृथगिति

इन श्लोकों का अभिप्राय यह है कि—मनीषी अर्थात् विद्वान् लोग सत्व (प्रकृति प्रधान) और पुरुष [आत्मा] इन दो पदार्थों का अंगीकार करते हैं। उनमें भी कितने एक विद्वान् सत्व और पुरुष को सर्वथा एक वा अभिन्न मानते हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। एवं कई एक सत्व और पुरुष को सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त भी विचारपूर्ण नहीं है। टीकाकार, इस कथन का उपपादन इस प्रकार करते हैं। पुरुष की तरह स्वच्छ और पुरुष का उपकारी होने से, "सत्व पुरुष से

यदि सत्वं ततः पुरुषात् पृथगन्यत्-भूतं नित्यनिवृ तं च स्यात्तर्हि मुक्तमप्यात्मानं न जह्यात् भूतत्वे तस्य निरन्वय नाशायोगात्; तस्मादनिर्मोक्षप्रसक्तेः, इदं मत मविचारितम् । एकत्वपक्षोपि प्रत्युक्तएव, कर्तृ त्वादेर्वास्तवत्वे धर्मनाश मंतरेणानिवृत्तेर्नैरात्म्यं । अनिर्मोक्षोवा प्रसज्येत इतिभावः सिद्धान्तमाह—" पृथग्भावश्च-विज्ञेयः सहजश्चापितत्वतः " सत्व पुरुषयोः समुद्रतरंगयोरिव शब्दतः प्रतीतिश्चपृथग्भावोऽस्ति। सत्वंच समुद्रे तरंग इव पुरुषे सहजम्। एवं विलीनतरंगस्येव मुक्तसत्वस्य पुनरुत्पत्त्ययोगान्ना-निर्मोक्षइति। कल्पित भेदेन संसारयात्रानिर्वाहः, अकल्पिताभेदेन मोक्षोपपत्तिरित्यर्थः । एवमपि सत्वपुरुषयो रेकजात्यापत्तेर्जड़ा जड़विभागो न स्यादित्याशंक्याह—तथैवेति । नयः युक्तिः यथा-उदम्बरफलोदरे बाह्यस्यान्यस्य प्रवेशायोगात्तदवयव एव मशकदेहस्ततो विजातीयः सन्नाविर्भवति। एवं चिद्विलासएव सत्वं ततः पृथग्भूय जड़त्वेनाविर्भवति।

[इति टीकायां नीलकंठाचार्यः]

अभिन्न है ऐसा मंतव्य तार्किकों-नैयायिकों का है, इसीलिये कर्तृत्वादि जो सत्व के धर्म हैं उनको वास्तविक रूप से वे आत्मा में मानते हैं तथा आत्मा और प्रकृति में सांख्यमतानुयायी तो केवल प्रतीति मात्र ही एकत्व मानते हैं और नैयायिक लोग उसी एकत्व को वास्तव रूप से स्वीकार करते हैं। परन्तु ये दोनों ही मत असंगत हैं, विचार शून्य हैं। इस अभिप्राय से सत्व और पुरुष का आत्यन्तिक भेद मानने वाले सांख्य मतावलम्बी के प्रति यह विरोध उपस्थित किया गया है कि यदि सत्व, पुरुष से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला है तो वह मुक्तात्मा का भी कभी त्याग नहीं कर सकता। तात्पर्य कि जिस प्रकार संसार दशा में या बन्ध दशा में वह पुरुष से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र होता हुआ उसका त्याग नहीं करता उसी प्रकार मोक्ष दशा में भी वह पुरुष से किसी प्रकार पृथक् नहीं हो सकता इस प्रकार मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा। तथा जो तार्किक लोग सत्व के धर्म भूत कर्तृत्वादि गुणों को आत्मा में वास्तव रूप से स्वीकार करते हैं उनके मत में भी मोक्ष की उपपत्ति नहीं होसकती। क्योंकि वास्तविक-स्वाभाविक-धर्मों का, धर्मी के नाश के विना कभी विनाश नहीं हो सकता, कर्तृत्वादि धर्म, यदि आत्मा में स्वभाव सिद्ध हों तो उनका आत्मा के नाश हुए बिना कभी नाश नहीं होगा (आत्मा का कभी नाश होता ही नहीं इसलिये उसके स्वभाव भूत कर्तृत्वादि गुण भी कभी नष्ट न होंगे) तब तो मोक्ष का होना असंभव ही होजायगा किन्तु सत्व और पुरुष में विचार दृष्टि से पृथक् भाव-भेद और सहजत्व-अभेद दोनों को ही मानना यथार्थ है। इसी प्रकार इनमें एकत्व और

और नानात्व का स्वीकार भी युक्तियुक्त है। जिस प्रकार उदुम्बर फल—(गुल्लर का फल) में रहने वाला उसी में उत्पन्न हुआ मशक (एक छोटा सा जीव) उससे भिन्न अथच अभिन्न है उसी प्रकार सत्व और पुरुष भी परस्पर में भिन्न अथच अभिन्न हैं इत्यादि। इससे प्रतीत होता है कि महाभारत के रचयिता को प्रकृति पुरुष का सापेक्ष भेदाभेद ही अभीष्ट है इसी को वह युक्ति युक्त समझता है इनका एकान्त भेद अथवा अभेद उसे ग्राह्य नहीं है। अतः महाभारत भी किसी न किसी अंश में अनेकान्तवाद का समर्थक है।

[मनुस्मृतिः]

मनुस्मृति को, सभी स्मृतियों से प्रधान माना है यह स्मृति अन्य स्मृतियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन और महत्वशालिनी समझी जाती है, छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—कि "जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि-दवाई है" (×) उक्त स्मृति में भी एक ऐसा उल्लेख है, कि जिसमें अनेकान्तवाद का अर्थतः स्पष्ट विधान पाया जाता है। तथाहि—

अनार्य मार्य कर्माण मार्यं चानार्य कर्मिणम्।
सम्प्रधार्या ब्रवीद्धाता न समो ना समाविति॥

(अ० १० श्लोक० ७३)

(×) 'यन्मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः"

कुल्लूकभट्ट— शूद्रं द्विजाति कर्म कारिणं द्विजातिंच शूद्र कर्म कारिणं, ब्रह्मा विचार्य "नसमौ नासमौ" इत्यवोचत्। यत: शूद्रो द्विजाति कर्मापि न द्विजाति सम: तस्यानधिकारिणो द्विजाति कर्माचरणेऽपि तत्साम्याभावात् एवं शूद्र कर्मापि द्विजाति-र्नशूद्रसम: निषिद्धसेवनेन जात्युत्कर्षस्यानपायात्। नाप्यसमौ निषिद्धाचरणेनोभयो: साम्यात्।

भावार्थ—द्विजाति–[ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य] के लिये जिन कर्मों का विधान किया गया है उनका आचरण करने वाला शूद्र और शूद्रोचित कर्मों का सेवन करने वाला द्विजाति, इन दोनों के विषय में विचार करके ब्रह्मा ने यह कहा कि ये दोनों [आर्य-अनार्य द्विजाति और शूद्र]—आपस में न तो समान हैं और न असमान हैं, अर्थात् ये दोनों सर्वथा एक भी नहीं और सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं। द्विजाति का कर्म करने पर भी शूद्र द्विजाति नहीं हो सकता एवं शूद्रोचित कर्म का अनुष्ठान करने पर द्विजाति शूद्र नहीं बनजाता इस अपेक्षा से ये दोनों सम अर्थात् एक नहीं हो सकते परन्तु दोनों ही निषिद्ध का आचरण कर रहे हैं अत: ये, असम अर्थात् भिन्न भी नहीं हैं। तब इसका यही तात्पर्य निकला कि ये दोनों किसी अपेक्षा से समान और किसी दृष्टि से असमान भी हैं किन्तु एकान्ततया न सम हैं और न असम हैं।

मनुस्मृति के इस उक्त श्लोक से प्रस्तुत विषय पर जो प्रकाश पड़ता है वह स्पष्ट है।

[ईश्वर का कर्तृत्व अकर्तृत्व]

सनातन धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित भीमसेन शर्मा लिखते हैं—ईश्वर के कर्तृत्ववाद में सनातन धर्म का सिद्धान्त यह है—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥ १ ॥

अत आत्मनि कर्तृत्व मकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्ता सौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे इच्छारहित धरे हुए चुम्बक के समीप होते ही लोहे में क्रिया होती है लोहगत क्रिया का हेतु-कर्त्ता चुम्बक है, वैसे ही ईश्वर के विद्यमान होने मात्र से प्रकृति में सृष्टि रचनादि की सब चेष्टा हुआ करती है। दृष्टान्त दार्ष्टान्त में भेद इतना ही है कि चुम्बक जड़ है और ईश्वर सर्वज्ञ चेतन है निरिच्छता और प्रयोजकता दोनों में एकसी है। इस दृष्टान्त से परमेश्वर में कर्तृत्व, अकर्तृत्व दोनों ही माने जाते हैं। निरिच्छ होने से परमेश्वर अकर्ता और उसके समीप हुए बिना प्रकृति कुछ नहीं कर सकती इस कारण ईश्वर कर्ता है—

"*प्रदीप भावा भावयोर्दर्शनस्य तथा भावादर्शन हेतुःप्रदीप इतिन्यायः*"

[ब्राह्मण सर्वस्व भा० ८ सं० १ पृ० २२]

लेख सर्वथा स्पष्ट है किसी प्रकार के टीका टिप्पन की आवश्यकता नहीं रखता पाठकों से यह कहने की कोई आवश्यकता

प्रतीत नहीं होती कि उक्त लेख किस हद तक अनेकान्तवाद की प्रामाणिकता का समर्थक है। ईश्वर में अपेक्षाभेद से कर्तृत्व और अकर्तृत्व ये दोनों विरुद्ध धर्म किस प्रकार रह सकते हैं इस बात का सप्रमाण निरूपण करके स्वर्गवासी उक्त पंडित जी ने न केवल अपेक्षावाद की उपयोगिता को ही साबित किया, किन्तु सनातन धर्म के इस महत्वपूर्ण मौलिक सिद्धान्त के विषय में फैली हुई साधारण जनता की अज्ञानता को भी बहुत अंश तक दूर कर दिया है। इसी प्रकार के अनेकानेक वाक्य, दर्शनों के आधार भूत श्रुतिस्मृति और पुराणादि में उपलब्ध होते हैं जिनसे कि अपेक्षावाद की उपयोगिता भली भांति विदित है।

[परिशिष्ट प्रकरण]

(ख)—विभाग।

[अनेकान्तवाद के साथ अन्याय]

(१) एक भारतीय साक्षर विद्वान् का कथन है कि—जिस प्रकार जैनों के अनेकान्तवाद अथवा सप्त भंगी नय के साथ अन्याय हो रहा है उसी प्रकार वेदान्त के अनिर्वचनीय वाद के

---

(१) देखो "हिन्द तत्त्व ज्ञाननो इतिहास" ग्रन्थकर्ता—श्रीयुत नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता बी. ए. मु० अहमदाबाद।

साथ भी है। (+) तथा—"जैसे वेदान्त की अनिर्वचनीय ख्याति का यथार्थ स्वरूप समझे बिना ही कतिपय जैन विद्वानों ने वेदान्त दर्शन को सर्वथा भ्रांतिमय बतलाते हुए उसका अनुचित उपहास किया है उसी तरह ब्राह्मण विद्वानों ने भी जैनों के अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के वास्तव स्वरूप को नासमझ करही उन्मत्त प्रलाप कह कर उसका मिथ्याखण्डन किया है + इससे प्रतीत हुआ कि जैनदर्शन के प्रतिपक्षी पंडितों ने अनेकान्तवाद का प्रतिवाद करते समय उसको जिस रूप में समझा अथवा माना है वह उसका यथार्थ स्वरूप नहीं। प्रतिपक्षी विद्वानों के द्वारा प्रदर्शित

× जेवी रीते जैनों ना अनेकान्तवाद ने अथवा षडभंगी (सप्तभंगी) नयने अन्याय थाय छे तेवी रीते वेदान्त ना अनिर्वचनीयताना वाद ने पण अन्याय थायछे।

[पृष्ठ १०७—पूर्वार्द्ध]

+ जेवी रीते ब्राह्मणों ना वेदान्तना मायावादनी अनिर्वचनीय ख्याति नूं स्वरूप केटलाक जैनोने नहीं समजायाथी जैनदर्शनमां वेदान्तशास्त्र नो "शुक्तिमां भ्रांति, प्रपंच एटले संसारमां भ्रांति, शास्त्रमां भ्रांति, प्रवृतिमां भ्रांति—एम जेनी मूर्तिज भ्रांति मय छे तेवा वेदांतिने शामा भ्रांति न कहे वाय" ए रीतनो उपहासथयोछे, तेवीज रीते जैन दर्शन नूं अनेकान्तवाद अनेस्याद्वाद नूं स्वरूप विचारशील ब्राह्मणो ने पण स्पष्ट नहिथवाथी, जैनो नूं शास्त्र एकान्त निश्चय जणावनार नहीं

किये गये स्याद्वाद के स्वरूप से जैन दर्शन का स्याद्वाद कुछ भिन्न प्रकार का है। इसलिये उनका प्रतिवाद या खंडन अनेकान्तवाद के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। जब कि- अनेकान्तवाद का, जो स्वरूप कल्पना करके प्रतिपक्षी विद्वानों ने उसका प्रतिवाद किया है—वह स्वरूप जैन दर्शन को अभिमत ही नहीं तब उक्त प्रतिवाद को किस प्रकार से न्यायोचित कहा जाय? जो बात वादी को स्वीकृत ही नहीं उसको जबरदस्ती उसके गले मढ़कर पीछे से उसकी अवहेलना करना यह कहाँ का न्याय है? बस यही दशा अनेकान्तवाद के प्रतिपक्षी विद्वानों की है।

हमारा यह कथन तो बड़ा ही साहसयुक्त वा धृष्टतापूर्ण समझा अथवा माना जायगा कि, जैन दर्शन के प्रतिपक्षी विद्वानों में से आज तक किसी ने अनेकान्तवाद के स्वरूप को समझा ही नहीं है। परन्तु वस्तु स्थिति कुछ ऐसी विलक्षण और जबरदस्त है कि एक बिलकुल निष्पक्ष और तटस्थ विचारक को भी उसके सामने बलात् नत मस्तक होना पड़ता है। जैन दर्शन के प्रतिद्वन्दी विद्वानों ने भले ही अनेकान्तवाद का

होवाथी मत्तप्रलाप जेवुं स्वीकारवा योग्यनथी—एवुं खोटुं खंडन-करवामा आव्युं छे। परन्तु हरिभद्रसूरि नामना जैन विचारके पक्षपात रहित बुद्धि थी ब्राह्मणो ना दर्शन शास्त्र ना भिन्न २ प्रमेयो जेवी रीते उकेल्यांछे तेवाज दृष्टि बिन्दु थी जैन तत्व ज्ञान ना मर्मो पण समजवानी जरूर छे।

[पृष्ठ २१६—उत्तरार्द्ध]

अन्तस्तल तक अवगाहन करके उसके यथार्थ स्वरूप को भली भांति अवगत कर लिया हो और यह भी सच हो कि उनका प्रौढ़ प्रतिवाद एक गम्भीर विचारक के हृदय में भी कुछ समय के लिये क्षोभ पैदा करदे परन्तु हमारे विचार में उनका प्रतिवाद—खंडन—अनेकान्तवाद के यथार्थ स्वरूप के अनुरूप तो नहीं है और उनमें कई एक विद्वान् तो ऐसे भी हैं कि जिनको जैन मत का कुछ भी ज्ञान प्रतीत नहीं होता।

उदाहरण के लिये प्रथम विज्ञान भिक्षु को लीजिये विज्ञान भिक्षु के विज्ञानामृत भाष्य का कुछ नमूना हम पाठकों को भेदाभेद की प्रामाणिकता के उपलक्ष में दिखा आये हैं। अब ब्रह्मसूत्र २।२।३३ के भाष्य में आपने जो कुछ जैन दर्शन के विषय में लिखा है उसको पाठक देखें—

[अपरेतु वाह्या दिगम्बरा एकस्मिन्नेव पदार्थे भावाभावौ मन्यन्ते तन्मतं निराक्रियते, वेदान्तोक्तस्य सत्कार्यवादस्य ब्रह्मकारणतोपयोगिनः सिद्ध्यर्थम् तत्रैवं ते कल्पयन्ति सामान्यतः सदसतौ द्वावेवपदार्थौ। आकाशादयो धर्मिणः एकत्वादयधर्माः अनयोरेव विशेषः। तत्रसर्वेष्वेव पदार्थेषु सप्तभंगी न्यायेन सदसत्व मनिर्वचनीयत्वं चास्ति तद्यथा सर्ववस्त्वव्यवस्थितमेव। स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः स्यान्नास्तिवा वक्तव्यः स्यादस्तिवा नास्तिवा स्यादस्तिचावक्तव्यः स्याना-

स्तिवा वक्तव्यः स्यादस्ति चनास्तिचा वक्तव्य-श्चेति सर्वत्रैव स्याच्छब्दो भवतीत्यादिरर्थ इति। अत्रेदमुच्यते न एकस्मिन् वस्तुनि यथोक्तभावा भावादि रूपत्वमपि, कुतः असम्भवात् प्रकार भेदं विना विरुद्धयोरेकदा सहावस्थान संस्थासम्भवात् प्रकार भेदाभ्युपगमे चास्मन्मत प्रवेशेन सर्वैव व्यवस्थास्ति कथ मव्यवस्थितम् जगदभ्युपगम्यते भवद्भिरित्यर्थः]

भावार्थ—ब्रह्म की कारणता में उपयोगी, जो वेदान्तोक्त सत्कार्यवाद है उसकी सिद्धि के लिये वेदबाह्य जैन मत का निराकरण करते हैं। जैन मत में सामान्यतः "सत्" और "असत्" ये दो ही पदार्थ माने गये हैं ! आकाशादि धर्मी और एकत्वादि धर्म, यह सब कुछ इन्ही दो—सत्-असत् पदार्थों का प्रपंच है। इस मत में सप्तभंगीन्याय से सभी पदार्थों में सत्व, असत्व और अनिर्वचनीयत्वादि का स्वीकार किया है। जैसे-सर्व वस्तु अव्यवस्थित—[व्यवस्था-नियम रहित] ही है। स्यादस्ति स्यान्नास्तित्यादि यहां स्यात् शब्द सब जगह पर "भवति" इस अर्थ का ही बोधक है [यह तो जैन मत का स्वरूप बतलाया गया अब इस मत का जिस प्रकार से खण्डन किया है उसको भी पाठक सुनें]

अत्रोच्यते इत्यादि—भाव और अभाव आपस में विरोधी हैं। इनका एक वस्तु में रहना प्रकार भेद [निरूपक

भेद—अपेक्षा भेद] के बिना कभी सम्भव नहीं हो सकता ! यदि प्रकार भेद से भावाभाव की स्थिति को मानेंगे तब तो यह हमारे ही मत को आपने स्वीकार कर लिया अर्थात् प्रकार भेद या अपेक्षाकृत भेद से दो विरुद्ध धर्मों का एक जगह पर रहना तो हम मानते ही हैं इसलिये हमारे मत का आपने आश्रय लिया । यदि ऐसा ही है तो फिर आप जगत–तद्वर्ति पदार्थों को अव्यवस्थित [अनिश्चित–व्यववस्था नियम से रहित] रूप से क्यों मानते हो अर्थात् जगत् को अव्यवस्थित न मानकर व्यवस्थित ही स्वीकार करना चाहिये ।

विज्ञान भिक्षु के विज्ञानामृत भाष्य के इस लेख से उनके जैन मत सम्बन्धी विधान और प्रति विधान की यथार्थता का अच्छी तरह से ज्ञान होजाता है ! मालूम नहीं भिक्षु महोदय जैन दर्शन के कितने बड़े पण्डित होंगे । हमारे ख्याल में तो वे जैन दर्शन से बिलकुल अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं । उन्होंने जैन दर्शन के द्रव्यानुयोग विषय की कोई प्रारम्भिक पुस्तक भी साद्यन्त पढ़ी अथवा देखी हो ऐसा उनके लेख से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता । हमारा अब तक यही ख्याल रहा कि आजकल के ही कतिपय भट्टाचार्य, किसी धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का पूर्णतया मनन किये बिना ही उसको मनमाने शब्दों में कोसने को तैयार होजाते हैं परन्तु विज्ञान भिक्षु के उक्त लेख से अब विदित हुआ कि यह रोग आजकल का ही नहीं किन्तु बहुत पुराना है । सत् और असत् ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं आकाशादि धर्मी और एकत्वादि धर्म यह सब कुछ इन्हीं दो, सत् असत् पदार्थों का विशेष–(प्रपंच) है । इस प्रकार का जैन दर्शन का

मंतव्य भिक्षु महोदय ने किस जैन ग्रंथ में से लिया होगा यह हमारी समझ से बाहिर है तथा जैन मत में सब वस्तु अव्यवस्थित-अनिश्चित-रूप से ही स्वीकार की है। अर्थात् जैन दर्शन को सभी पदार्थ अव्यवस्थित रूप से ही अभिमत हैं। इस प्रकार का जैन सिद्धान्त उन्होंने किस जैन ग्रंथ के उल्लेख से स्थिर किया इसका भी कुछ पता नहीं चलता। कदापि अनेकान्त शब्द का ही अव्यवस्थित अर्थ उन्होंने समझा हो तो कुछ आश्चर्य नहीं ऐसा और भी अनेक विद्वानों ने समझा वा माना है। फिर "सर्वत्रैव स्याच्छब्दो भवतीत्यादिरर्थः" यहां सभी स्थानों में "स्यात्" शब्द भवति [है—या होता है—सत्ता] इस अर्थ का बोधक है। इस लेख से तो आपने जैन धर्म विषयिणी अपनी अन्तस्तलवर्त्तिनी प्रज्ञा का परिचय देने में कुछ बाक़ी ही नहीं रखी। साधारण जनता की बात कुछ और है परन्तु विचारक श्रेणी के लोगों में तो इस प्रकार के लेखक कभी उपहास का पात्र हुए बिना नहीं रहते। अच्छा अब आपके प्रतिवाद के लेख का विचार करिये। आपका कथन है कि एक वस्तु में प्रकार भेद का आश्रय लिये बिना भाव और अभाव ये दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते। परन्तु ऐसा मानता कौन है ? क्या किसी जैन ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि एक वस्तु में जिस रूप से भाव और उसी रूप से अभाव रहता है ? यदि नहीं तो फिर उस पर [जैन दर्शन पर] यह वृथा दोपारोपण क्यों किया जाता है ? क्या यह अन्याय नहीं ? तथा—"यदि प्रकार भेद से ही एक वस्तु में दो विरोधी धर्मों को आप स्वीकार करते हों तो यह हमारा ही मत-सिद्धान्त है अर्थात् प्रकार भेद से दो विरोधी धर्मों की एक पदार्थ में सत्ता

को तो हम भी मानते हैं। इस कथन से सिद्ध हुआ कि यदि प्रकार भेद से–अपेक्षाकृत भेद से–एक वस्तु में दो विरोधी धर्मों का अंगीकार जैन दर्शन को अभिमत हो तो इसमें कोई आपत्ति नहीं कोई दोष नहीं, परन्तु यह मत तो हमारा है। चलो फैसला हुआ ? आप ही का मत सही, हमको इसमें कोई आग्रह नहीं कि यह मत हमारा है या आपका। भले आपका हो या हमारा परन्तु है तो युक्तियुक्त ? बस जो सिद्धान्त अनुभव गम्य या युक्ति गम्य हो उसके स्वीकार करने में किसी को भी किसी प्रकार की आना-कानी नहीं होनी चाहिये। ऐसा हरिभद्र सूरि आदि जैन विद्वानों का भी कहना अथवा मानना है + विज्ञान भिक्षु के सिवाय कतिपय अन्य दार्शनिक विद्वानों को भी जैन मत के विषय में कहीं कहीं पर विपरीत सा ज्ञान हुआ देखा जाता है (१) परन्तु इतने पर से यह नहीं कहा जा सकता कि उनको जैन दर्शन का

× *पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु,*
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्यकार्यः परिग्रहः।

(१)–क—अनन्तावयवोजीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे संकुचेयु महति च विकसेयुरिति [शंकराचार्य २।२।३४ का शां० भा०]

(ख) जीवास्तिकाय त्रिधा बद्धो मुक्तो नित्य सिद्ध श्चेति। पुद्गलास्तिकायः षोढा–पृथिव्यादीनिचत्वारि भूतानि स्थावरं जंगमंचेति [वाचस्पतिमिश्र भामतिं]।

ज्ञान ही नहीं था। किसी मत के अमुक एक सिद्धान्त के विषय में भ्रम का हो जाना छद्मस्थ पुरुष के लिये अनिवार्य है।

[शंकर स्वामी और भास्कराचार्य]

स्वामी शंकराचार्य और भट्ट भास्कर के सिद्धान्त में बहुत अन्तर है, शंकरस्वामी पूरे अभेदवादी, और भास्कराचार्य पूर्णतया भेदाभेद वाद के अनुयायी हैं। शंकरस्वामी के मायावाद का

(ग)—जीवास्तिकायस्त्रेधा-बद्धोमुक्तो नित्यसिद्धश्चेति। तत्राईन्मुनिर्नित्य सिद्धः इतरे केचत् साधनैर्मुक्ताः अन्ये बद्धा इति भेदः। पुद्गलास्तिकायः षोढा—पृथिव्यादि चत्वारि भूतानि स्थावरं जंगमंचेति [आनन्दगिरिः]

(घ)—जीवास्तिकायस्त्रिविधः कश्चिज्जीवो नित्य सिद्धोर्हन्मुख्यः। केचित्साम्प्रतिकमुक्ताः केचत् बद्धा इति। पुद्गलास्तिकायः षोढा-पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि स्थावरं जंगमंचेति [रत्नप्रभा व्याख्या]

इन ऊपर दिये गये पाठों में (१) जीव को अनन्त अवयवों वाला कहना और (ख० ग० घ०]—जीवस्तिकाय को बद्ध मुक्त और नित्य सिद्ध, कहकर अर्हन को नित्य सिद्ध और बाकी दो को मुक्त और बद्ध बतलाना, एवं पुद्गलास्तिकाय को पृथिवी आदि चार भूत और स्थावर तथा जंगम भेद से छै प्रकार का कथन करना जैन सिद्धान्त के अनुसार नहीं है। इनका इस रूप में किसी जैन ग्रंथ में उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया।

सब से प्रथम खंडन करने वाला यदि कोई विद्वान् हुआ है तो वह भास्कराचार्य है इसलिये ये दोनों ही विद्वान् सिद्धान्त के विषय में एक दूसरे के विचारों से सहमत नहीं किंतु एक दूसरे का प्रतिपक्षी है। भास्कराचार्य ने शंकर स्वामी के अनिर्वचनीय वाद के सिद्धान्त का बड़ी ही प्रौढ़ता से प्रतिवाद किया है* सिद्धान्त के विषय में इनका इस कदर विचार भेद होने पर भी जैन दर्शन के विषय में ये दोनों विद्वान् एक जैसे ही विचार रखते हैं अर्थात् जैन दर्शन के अनेकान्तवाद को दोनों ने एक ही रूप में समझा और एक ही शैली से उसका खण्डन किया। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि शंकर स्वामी का लेख कुछ विशद और भास्कराचार्य ने कुछ संक्षेप में लिखा है। मगर प्रतिवाद की शैली दोनों की समान है।

इनके अतिरिक्त और भी जितने प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं उनमें भी प्रायः इन्हीं दोनों विद्वानों की शैली का अनुसरण किया है। इसलिये इन दोनों में से किसी एक विद्वान् (शंकर स्वामी अथवा भास्कराचार्य) के लेख पर विचार कर लेने से सब के लेख का विचार हो जाता है। अतः इन्हीं दोनों के लेख का यहाँ पर विचार करते हैं।

[दृष्टि भेद]

अन्य विद्वान् चाहे कुछ भी कहें परन्तु हमतो यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि शंकराचार्य प्रभृति विद्वानों ने

* देखो इनका २।१।१४ सूत्र का भाष्य।

अनेकान्तवाद के स्वरूप को समझा ही नहीं ऐसा कहना तो उनका घोर अपमान करना है। हां इतना तो हम अवश्य कहेंगे कि उन्होंने अनेकान्तवाद का जो खण्डन किया है वह उसके—अनेकान्तवाद के—स्वरूप के अनुरूप नहीं। जिस प्रकार शंकर स्वामी के अनिर्वचनीयवाद के सिद्धान्त के साथ उनके प्रतिपक्षी विद्वानों ने जबरदस्ती की है, अर्थात् अनिर्वचनीय शब्द का मनमाना अर्थ व तात्पर्य कल्पना करके उसका यथारुचि खण्डन करके स्वामी शंकराचार्य के साथ अन्याय किया है। उसी प्रकार जैन दर्शन के अनेकान्तवाद के साथ स्वामी शंकराचार्य और भास्कराचार्य प्रभृति विद्वान् भी सचमुच अन्याय ही कर रहे हैं। इसका कारण परस्पर का दृष्टि भेद है। जिस दृष्टि को लेकर जैन दर्शन में अनेकान्तवाद के सिद्धान्त की कल्पना की गई है उसी दृष्टि से अगर शंकराचार्य प्रभृति विद्वान् उसकी आलोचना करते तब तो उनका प्रतिवाद विचारपूर्ण कहा अथवा माना जाता परन्तु वस्तु स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। अर्थात्—जैनदर्शन का अनेकान्तवाद कुछ और है और शंकर स्वामी उसको किसी और रूप में ही कल्पना कर रहे हैं इस दृष्टि भेद के कारण ही इनका परस्पर में विरोध है। उदाहरणार्थ शांकर भाष्य की निम्नलिखित पंक्तियों को देखें—

ब्रह्मसूत्र २।२।३३। के भाष्य में शंकर स्वामी लिखते हैं—

"नह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्वादि विरुद्ध धर्म समावेशः सम्भवति शीतोष्णवत्"।

शीत और उष्णता की भांति एक धर्मी में परस्पर विरोधी सत्व

और असत्व आदि धर्मों का एक काल में समावेश (स्थिति) नहीं हो सकता अर्थात् जिस प्रकार शीत और उष्णता ये दो विरुद्ध धर्म एक काल में एक जगह पर नहीं रह सकते उसी तरह सत्व और असत्व का भी एक काल में एक स्थान पर रहना नहीं बन सकता। इसलिये जैनों का सिद्धान्त ठीक नहीं है "नाय-**मभ्युपगमोयुक्तः**"(महामति भास्कराचार्य ने आपने भाष्य में इसी बात को और प्रकार से लिखा है परन्तु आशय में फर्क नहीं है*)।

भाष्य के व्याख्याकारों ने यहां इस प्रकार वर्णन किया है। "जो वास्तव में सत् है वह सदा और सब रूप से सत् ही रहेगा, जैसे आत्मा और जिसमें कभी और किसी रूप से सत्व की उपलब्धि होती है वह वस्तुतः सत् नहीं उसमें जो सत्व है वह केवल व्यावहारिक है अर्थात् व्यवहारमात्र को लेकर उसको सत् कहा जायगा परमार्थ से वह सत् नहीं जैसे प्रपंच" (वाचस्पति×)।

जो सत् है वह सदा सत् ही रहेगा कभी असत् नहीं हो सकता, जैसे "ब्रह्म" और जो असत् है वह सदा असत् ही

---

* तत्रेद मुच्यते नैकस्मिन् धर्मिण्यसम्भवात् कथ मेकोभावोऽस्ति च नास्तिच स्याद्यदा स्तीत्यवधार्यते विरोधात् २।२।३३ (भा भाष्य)

× "एतदुक्तं भवति—सत्यंयदस्ति वस्तुत स्तत्सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मना निर्वचनीयेनरूपेणास्त्येव न नास्ति, यथा प्रत्यगात्मा। यत्तु क्वचित् कथंचित् केन चिदात्मनास्तीत्युच्यते, यथा प्रपंचः तद् व्यवहारतो न तु परमार्थतः" (भामति)

रहेगा। यथा शशविषाण—ससले के सींग—और प्रपंच इन दोनों (सत्–असत्—) से विलक्षण हैं अतः एकान्तवाद ही युक्तियुक्त है अनेकान्तवाद नहीं (गोविन्दाचार्य)‡ "जो पदार्थ 'है' उसको 'है' और 'नहीं' यह किस प्रकार कहा जाय" (भास्कराचार्य)

उपर्युक्त भाष्य और उसकी टीकाओं के लेख से दो बातें साबित हुईं।

(१) सत् असत् का और असत् सत् का अत्यन्त विरोधी है।

(२) जिसका कभी किसी रूप में भी बाध न हो वह सत् [ब्रह्म] और जिसकी किसी दशा में भी कभी प्रतीति न हो वह असत् है [शशश्टंग] तथा प्रपंच का बाध भी होता है [ब्रह्म साक्षात् कार के उत्तरकाल में] और प्रत्यक्ष रूप से प्रतीति भी होती है अतः वह न केवल सत् और न असत् किन्तु दोनों से विलक्षण है। इससे सिद्ध हुआ कि जो वस्तुतः सत् है वह असत् कभी नहीं हो सकता [ब्रह्म] और जो सर्वथा असत् है वह सत् कभी नहीं बन सकता [शशश्टंग] तथा प्रपंच जगत न सर्वथा सत् है और नाहीअसत्, [इससे साफ सिद्ध

---

‡ "यदस्तितत् सर्वत्र सर्वदास्त्येव यथा ब्रह्मात्मा..................
यन्नास्ति तन्नास्त्येव, यथा शशविषाणादि। प्रपञ्चस्तूभय विलक्षण एवेत्येकान्त वाद एव युक्तो नानेकान्तवादः [रत्नप्रभा]

हुआ कि वह कथंचित् सत् असत् उभय (×) रूप है]—इस प्रकार सत्, असत् का आपस में अत्यन्त विरोध होने से एक ही पदार्थ को सत् असत् उभयरूप मानना कभी युक्ति युक्त नहीं है। इसके सिवाय, एक अनेक, नित्य, अनित्य और व्यतिरिक्ता-व्यतिरिक्तत्व आदि धर्मों के सम्बन्ध में भी यही न्याय समझ लेना चाहिये ❀।

अर्थात्—जैसे एक ही पदार्थ, सत् असत् उभयरूप नहीं हो सकता उसी प्रकार उसको एक, अनेक, नित्य अनित्य और भिन्न, अभिन्न भी नहीं मान सकते। अथवा यूं कहिये कि जिस प्रकार सत्व असत्व का एक धर्मी में युगपत-समावेश नहीं होता ऐसे

× शंकर स्वामी ने जगत् में आपेक्षिक सत्यता का स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है देखो उनका तैतिरीय उपनिषद् का भाष्य—

"इहपुनर्व्यवहार विषय मापेक्षिकं सत्यं मृगतृष्णिका बन्टतापेक्षया उदकादि सत्यमुच्यते। २। ६।

तथा—(शंकर ने अलीक और असत्यमें भेद माना है। आकाश कुसुम मृगतृष्णा प्रभृति अलीक पदार्थ हैं इन पदार्थों की तुलना में जगत् को शंकर ने सत्य कहा है इसलिये शंकर मत में जगत् अलीक नहीं शक्ति भी मिथ्या नहीं, तैतिरीय भाष्य देखो, केवल ब्रह्म के सन्मुख ही जगत् असत्य कहा गया है। देखो—

(उपनिषद् का उपदेश भाग २ हिन्दी अनुवाद पृ० ६० लेखक पं० कोलिकेश्वर भट्टाचार्य एम० ए० विद्यारत्न)

❀ एतेनैकानेक नित्यानित्य व्यतिरिक्ता व्यतिरिक्ताद्य नेकान्ताभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः (शांकरभाष्य)

ही, एकत्व, अनेकत्व और नित्यानित्यत्व आदि धर्म भी एक स्थान में नहीं रह सकते। परन्तु जैनदर्शन इसके विरुद्ध ऐसा ही मानता है अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्मों की भी वह एक स्थान में स्थिति का अंगीकार करता है। अतः उसका यह मंतव्य सर्वथा अनुभव विरुद्ध और युक्ति विकल होने से असंगत एवं त्याज्य है "**असंगतमिद मार्हतंमतम्**" [शां० भा०]

शंकराचार्य प्रभृति विद्वानों का प्रस्तुत विषय में यही मत है इसी के अनुसार उन्होंने जैन दर्शन के अनेकान्त वाद का बड़ी प्रौढ़ता से खंडन किया है, परन्तु हमारे ख्याल में उक्त विद्वानों का इस रूपमें अनेकान्त वाद या स्याद्वाद का खंडन करना उसके साथ [अनेकान्त वाद के साथ] सरासर अन्याय करना है। जैनदर्शन का अनेकान्तवाद वा स्याद्वाद ऐसा नहीं जैसा कि शंकराचार्य आदि विद्वानों ने समझा अथवा माना है किन्तु उससे विलक्षण है। यदि स्याद्वाद का यही वास्तव स्वरुप होता जो कि शंकराचार्य प्रभृति विद्वानोंने प्रतिवादके लिये कल्पना किया है तो उनके प्रतिवाद का अवश्य कुछ मूल्य पड़ता परन्तु वस्तुस्थिति इसकेसर्वथा विपरीत है, अर्थात्—जैनदर्शन के स्याद्वाद का वह स्वरूप ही नहीं इसलिये प्रतिपक्षी विद्वानों का प्रतिवाद एक तटस्थ विचारक के सामने कुछ मूल्य नहीं रखता।

[प्रतिपक्षी विद्वानों के प्रतिवाद की तुलना]

अनेकान्त वाद का अथवा स्याद्वाद का जो स्वरूप जैन दर्शन ने प्रतिपादन किया है उसके साथ यदि प्रतिवादी दल के प्रतिवाद का मिलान किया जाय तो वह एक

दूसरे से कुछ भी सम्बन्ध रखता हुआ प्रतीत नहीं होता। बहुधा मतान्तरीय विद्वानों की आजतक यही धारणा रही और है कि परस्पर विरुद्ध धर्मों को एक स्थान में स्वीकार करने का नाम अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है। परन्तु क्यों? और कैसे? इस पर किसी ने भी अधिक लक्ष नही दिया इसी कारण जैनदर्शन के स्याद्वाद पर प्रति पक्षी विद्वानों ने अनेक तरह के मिथ्या उचितानुचित आक्षेप किये हैं× और यह भी सत्य है कि—उन आक्षेपों का उत्तर देते हुए कतिपय जैन विद्वानों ने भी कहीं कहीं पर भाषा समिति के सर्वोच्च अधिकार में हस्ताक्षेप कर दिया है❀ इस कदर मनोमालिन्य का कारण तत्व विषयणी अज्ञानता और बढ़े हुए एकान्त दृष्टि भेद के सिवाय और कुछ नहीं। अस्तु कुछ भी हो, अब यहाँ विचार इस बात का करना है कि जैन दर्शन के स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का वास्तव स्वरूप क्या है अर्थात् परपर विरोधी धर्मों की सत्ता को एक अधिकरण में जैनदर्शन मानता है या कि नहीं? अगर मानता है तो किस रूप में? तथा उसके इस मन्तव्य के

× अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन्मत्तोन्मत्त वदनुपादेयवचनः स्यात्
(शां० भा० पृ० ४८३)

"तत्रैवं शास्त्रं प्रणयन्नुन्मत्त तुल्य स्तीर्थंकरः स्यात्"
(भास्कराचार्य)

❀ दूषयेदज्ञएवोच्चैः स्याद्वादं नतु पंडितः।
अज्ञ प्रलापे सुज्ञानां न द्वेषः करुणैवतु ॥६४॥
(अध्या० उ० अधि० १ उ० यशो विजय)

अनुसार ही अनेकान्तवाद के प्रतिद्वंद्वी विद्वानों ने उसका खंडन किया है या उसका यथामति स्वरूप कल्पना करके प्रतिवाद किया है ?

जहां तक हमने जैन दर्शन का अभ्यास किया है। वहां तक हम यह निःशंकतया कह सकते हैं कि "परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक स्थान में विधान करना" इस प्रकार का स्याद्वाद का स्वरूप जैन दर्शन को अभिमत नहीं। किन्तु अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अपेक्षा कृत भेद से जो जो धर्म रहे हुए हैं उन को उसी उसी अपेक्षा से वस्तु में स्वीकार करने की पद्धति को जैन दर्शन, अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के नाम से उल्लेख करता है× जो पदार्थ जिस रूप से सत् है उसको उसी रूप से असत् एवं जिस रूप से जो नित्य है उसको उसी रूप से अनित्य, न तो जैन दर्शन कहता अथवा मानता है और नाही इस प्रकार की सम्मति देता है। अथवा इस बात को इस प्रकार समझिये कि, एक ही पदार्थ में जिस रूप से सत्व है उसी रूप से उसमें असत्व भी है तथा जिस रूप से पदार्थ में नित्यत्व है उसी रूप से उसमें अनित्यत्व भी है इस प्रकार की मान्यता जैन दर्शन की नहीं है। जैन विद्वानों ने इस भ्रम को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में दूर

× नह्येकत्र नाना विरुद्ध धर्म प्रतिपादकः स्याद्वादः किन्तु अपेक्षाभेदेन तदविरोध द्योतक स्यात्पद समभिव्याहृतवाक्यविशेषःस इति"

(उ० यशोविजय न्यायखंड खाद्य श्लो० ४२ की व्याख्या)

करने का प्रयत्न किया है (१) उस पर यदि मतान्तरीय विद्वान् सम्यक्-तया ध्यान नदें तो इसमें जैनदर्शन अथवा जैन विद्वानोंका क्या दोष ?
"नायंस्थाणो रपराधो यदेनमन्धोनपश्यति" [निरुक्ते यास्काचार्य]
स्थाणु का यह कोई अपराध नहीं जो कि नेत्रहीन उसको नहीं देखता। अतः शंकराचार्य प्रभृति विद्वानों के—"जो पदार्थ सत् रूप है वह असत् नहीं हो सकता अथवा पदार्थ में जिस रूप से सत्व है उस रूप से असत्व उसमें नहीं रह सकता" इस कथन के साथ जैन दर्शन को कोई विरोध नहीं है, जैन दर्शन भी तो पदार्थ में जिस रूप से सत्व है उस रूप से असत्व का अंगीकार नहीं करता अर्थात् इस विषय में इन सब का मन्तव्य एकसा ही है, इस दशा में प्रतिपक्षी विद्वानों के द्वारा अनेकान्तवाद पर उक्त रूप से जो आक्षेप किया गया है और जिसके आधार पर वे अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को मिथ्या या उन्मत्त प्रलाप बतलाते हैं वह कुछ मूल्यवान् प्रतीत नहीं होता। जो बात जैन दर्शन को अभीष्ट ही नहीं उसको जबरदस्ती उसके गले में मढ़ना और

---

(१) क—"नखलु यदेव सत्वं तदेवासत्वं भवितु मर्हति विधि प्रतिषेध रूपतया विरुद्ध धर्माध्यासेनानयो रैक्यायोगात्"..................
"नहि वयं येनैव प्रकारेण सत्वं, तेनैवासत्वं, येनैवासत्वं, तेनैवसत्वमभ्युपेमः किन्तु" इत्यादि।

(स्याद्वाद मंजरी पृ० १०८)

* यदि येनैव प्रकारेण सत्वं, तेनैवासत्वं येनैवचासत्वं तेनैव सत्व मभ्युपेयेत तदा स्याद्विरोधः इत्यादि।

(रत्नाकरावतारिका ५ परि पृ० ८६)

फिर उसकी उसी निमित्त से प्रतारणा करना, कहां तक न्याय-संगत है, इसका विचार पाठक स्वयं करें।

हमारे ख्याल में तो यह प्रतिवाद जैन दर्शन के अनेकान्त-वाद का नहीं जो कि शंकराचार्य प्रभृति विद्वानों ने किया है। किन्तु एक ही रूप से निरपेक्षतया पदार्थ को सत् असत् उभय रूप मानने वालों का है–क्या जाने, ऐसा भी कोई मानते होंगे ? *"भिन्नमातिर्हिलोकः"* संसार में अनेक विचार के लोग विद्यमान हैं उनके लिये शंकराचार्य प्रभृति का कथन भले ही उपयुक्त समझा जाय। इस विषय में तो जैन दर्शन भी उनके–प्रतिपक्षी विद्वानों के–साथ सहमत है।

[जैनदर्शन किस प्रकार से वस्तु को सदसत् रूप मानता है]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित हुआ कि शंकर स्वामी प्रभृति विद्वानों ने जिस सिद्धान्त का खण्डन किया है–अर्थात् जिसको असंगत या उन्मत्त प्रलाप बतलाया है वह सिद्धान्त वास्तव में जैन दर्शन का सिद्धान्त नहीं अतएव उनका यह प्रतिवाद जैन-अनेकान्तवाद का प्रतिवाद नहीं कहा जा सकता और यह भी सिद्ध हुआ कि शंकराचार्य आदि विद्वानों को जिस प्रकार यह मत–[पदार्थ एक ही रूप से सत् असत् उभय रूप है] असंगत प्रतीत हुआ उसी प्रकार जैन दर्शन भी इससे सहमत नहीं है अर्थात् वह भी उक्त मत को असंगत ही मानता है। इसलिये यह बात भलीभांति साबित होगई कि प्रतिपक्षी विद्वानों ने जो स्वरूप कल्पना करके अनेकान्तवाद का खण्डन किया है

यह स्वरूप जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का नहीं है जैनदर्शन का अनेकान्तवाद उससे भिन्न प्रकार का है।

अब यहां इस बात का विचार करना बाकी रह जाता है कि जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का वास्तव स्वरूप क्या है—अर्थात् जैन दर्शन, एक ही पदार्थ को सत् असत् उभय रूप किस प्रकार से मानता है तथा उसकी मान्यता में भी विरोध का प्रसार हो सकता है या कि नहीं।

जैन दर्शनको कोई भी प्रतीयमान पदार्थ एकान्ततया सत् व असत् नित्य अथवा अनित्य रूप से अभिमत नहीं। उसके मत में वस्तु मात्र ही *अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त है। सत्व, असत्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि सभी वस्तु के धर्म हैं वस्तु में जिस प्रकार सत्व वा नित्यत्व रहता है उसी प्रकार असत्व और अनित्यत्व भी विद्यमान है + परन्तु एक ही रूप से नहीं किन्तु भिन्न रूप से अर्थात् जिस रूप से वस्तु में सत्व या नित्यत्व का निवास है उसी रूप से उसमें असत्व वा अनित्व को स्थान नहीं किंतु सत्वादि किसी और रूप से वस्तु में रहते हैं और असत्वादि किसी भिन्न प्रकार से निवास करते हैं इस तरह, प्रकार भेद या अपेक्षाभेद से दोनों ही धर्म वस्तु में मौजूद हैं अतः सापेक्षतया वस्तु सत् अथच असत् उभय रूप है। इसी प्रकार अपेक्षाकृत भेद से वस्तु में नित्यानित्यत्व आदि धर्म भी मौजूद हैं। इस दशा में विरोध की कोई आशंका नहीं रहती।

---

* वयंखलु जैनेन्द्राः "एकं वस्तु सप्रतिपक्षानेकधर्मरूपाधिकरणम्" इत्याचक्षमहे। [प्रमेयरत्न कोष चंद्रप्रभ सूरिः पृ० ५]

[उक्त विषय का विशेष स्पष्टीकरण]

जैन दर्शन में वस्तु तत्व का विचार उसके [वस्तु के] स्वरूप के अनुसार किया है। लौकिक अनुभव से वस्तु का जो स्वरूप प्रतीत हो उसके अनुसार किया गया विचार ही युक्ति युक्त कहा वा माना जा सकता है। वस्तु स्वरूप का विचार करते हुये अनुभव से वह एकान्ततया सत् [भावरूप] किम्वा असत् [अभाव रूप] प्रतीत नहीं होती, किंतु अनेकान्त-सत्, असत्-भाव और अभाव रूप से-ही उसकी प्रतीति होती है। अतः वस्तु को सर्वथा सत् [भावरूप] किम्वा असत् [अभावरूप] ही न मानकर, सत् असत्-भाव-अभाव उभय रूप से ही स्वीकार करना युक्तियुक्त और प्रमाण के अनुरूप है। परन्तु वस्तु [पदार्थ] जिस रूप से सत् [भावरूप] उसी रूप से असत् (अभाव रूप) भी है ऐसी मान्यता को जैन दर्शन में स्थान नहीं दिया गया, जैन दर्शन एक ही रूप से वस्तु को सत् और असत् नहीं मानता किंतु सत् वस्तु को वह उसके स्वभाव की अपेक्षा कहता है और असत् [अभाव रूप] अन्य वस्तु की अपेक्षा से कथन करता है। इस तत्व के स्पष्टी करणार्थ ही जैन दर्शन में स्वरूप और पररूप इन दो शब्दों का विधान किया है। स्वरुप की अपेक्षा वस्तु में सत्व और पर रूप की अपेक्षा असत्व, एवं अपेक्षा कृत भेद से वस्तु का अनेकान्त-सत्-असत्, भाव, अभाव, नित्य, अनित्य, स्वरूप ही जैन दर्शन को अभिमत है❀ इस विषय की चर्चा करते हुये

+ एवं स्वतः परतोवानुवृत्तिव्यावृत्यायनेक शक्ति युक्तो त्पादादि त्रैलक्षण्य लक्षण मनेकान्तात्मकं जगत्। (शा० वा० स० स्त० ७ पृ० २२ कल्पलता टीका)

जैन विद्वानों ने जो सिद्धान्त स्थिर किया है उसका सारांश इस प्रकार है।

(१) हम एक ही रूप से वस्तु में सत्व और असत्व का अंगीकार नहीं करते जिससे कि विरोध की सम्भावना हो सके किन्तु सत्व उसमें स्वरूप की अपेक्षा और असत्व पर रूप की अपेक्षा से है इसलिये विरोध की कोई आशंका नहीं।

(मल्लिषेण सूरिः)

(२) नित्यानित्य होने से वस्तु जैसे अनेकान्त है ऐसे सदसत् रूप होने से भी अनेकान्त है तात्पर्य कि

१—नहि वयं येनैव प्रकारेण सत्वं, तेनैवासत्वं, येनैवचासत्वं तेनैव सत्व मभ्युपेमः किन्तु स्वरूप द्रव्य क्षेत्रकालभावैः सत्वं, पररूप द्रव्य क्षेत्र काल भावै स्त्वसत्वं तदा क्व विरोधावकाशः

(स्याद्वाद मंजरी पृ० १०८)

२—एवं सदसदनेकान्तोपि नन्वत्र विरोधः। कथमेकमेव कुम्भादि वस्तु सच्च, असच्च भवति सत्वंहि असत्व परिहारेण व्यवस्थितं असत्व मपि सत्व परिहारेण, अन्यथा तयो रविशेषः स्यात्। ततश्च तद्यदि सत् कथमसत् ? अथासत् कथं सदिति ? तदनवदातम्। यतो-यदि येनैव प्रकारेण सत्वं तेनैवासत्वं येनैव चासत्वं, तेनैव सत्व मभ्यु पेयेत, तदा स्याद्विरोधः। यदातु स्वरूपेण घटादित्वेन, स्वद्रव्येण हिरण्मयादित्वेन स्वक्षेत्रेण नागरादित्वेन, स्वकालत्वेन वासन्तिकादित्वेन सत्वम्। पररूपादिना तु पटत्व, तन्तुत्व ग्राम्यत्व ग्रैष्मिकत्वादिनाऽसत्वम्। तदा क्व विरोधगन्धोपि। रत्नाकरावतारिका प० ५ पृ० ८६

वस्तु नित्यानित्य की तरह सत् असत् रूप भी है [शंका] यह कथन विरुद्ध है, एक ही वस्तु सत् और असत् रूप नहीं हो सकती, सत्व असत्व का विनाशक है और असत्व सत्व का विरोधी है यदि ऐसा न हो तो सत्व और असत्व दोनों एक ही हो जावेंगे। अतः जो सत् है वह असत् कैसे? और जो असत् है वह सत् कैसे कहा जा सकता है इसलिये एक ही वस्तु को सत् भी मानना और असत् भी स्वीकार करना अनुचित है [समाधान] यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि हम एक ही रूप से वस्तु में सत्व और असत्व का अंगीकार करें तब तो विरोध हो सकता है परन्तु हम ऐसा नहीं मानते तात्पर्य कि जिस रूप से वस्तु में सत्व है उसी रूप से यदि उसमें असत्व मानें, तथा जिस रूप से असत्व है उसी रूप से सत्व को स्वीकार करें तब तो विरोध हो सकता है परन्तु हम तो वस्तु में जिस रूप से सत्व मानते उससे भिन्न रूप से उसमें असत्व का अंगीकार करते हैं अर्थात् स्व द्रव्य क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा उसमें सत्व, और पर द्रव्य क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा असत्व है, इसलिये अपेक्षा भेद से सत्व असत्व दोनों ही वस्तु में अविरुद्धतया रहते हैं इसमें विरोध की कोई आशंका नहीं।

[रत्न प्रभाचार्य]

(३) सत्व वस्तु का धर्म है, उसका यदि स्वीकार न किया जाय तो खर विषाण की तरह वस्तु में वस्तुत्व ही न रहेगा, इस

---

(३) तत्र सत्वं वस्तु धर्मः तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात्, खर विषाणादि वत्। तथा कथंचिदसत्वं, स्वरूपादिभिरि व पररूपादिभिरपि

लिये वस्तु सत् है तथा सत्व की भांति उसमें वस्तु में—कथंचित असत्व भी है कारण कि जिस प्रकार स्वरूपादि की अपेक्षा से वस्तु में सत्व अनिष्ट नहीं। उसी प्रकार यदि पर रूपादि से भी अनिष्ट न हो तो वस्तु के प्रति नियत स्वरूप का अभाव होने से वस्तु प्रति नियम का विरोध होगा। अतः स्वरूपादि की अपेक्षा जैसे वस्तु में सत्व इष्ट है वैसे पर रूपादि से नहीं इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु में सत्व और पर रूपादि की अपेक्षा से असत्व अतः अपेक्षाकृत भेद से सत्वासत्व दोनों ही वस्तु में बिना किसी विरोध के रहते हैं। + (विद्यानन्द स्वामी)

(४) वस्तु स्व द्रव्य क्षेत्रकाल भाव रूप से सत् और पर द्रव्य क्षेत्रकाल भाव रूप से असत् अतः सत् और असत् उभय रूप है,

---

वस्तुनोऽसत्वानिष्टौ प्रति नियत स्वरूपा भावात् वस्तु प्रतिनियम विरोधात्। (अष्टसहस्री १ परिच्छेद पृ० १२६)

+ ततः स्यात्सदसदात्मकाः पदार्थाः सर्वस्य सर्वाकरणात्। नहि घटादि वत् क्षीराद्याहरण लक्षणा मर्थक्रियां कुर्वंति घटादि ज्ञानं वा। तदुभयात्मनि दृष्टान्तः सुलभः, सर्वप्रवादिनां श्रेष्ठ तत्वस्य स्वरूपेण सत्वेऽनिष्ठ रूपेणासत्वे च विवादाभावात् तस्यैव च दृष्टान्तोपपत्तेः। (अष्ट स० पृ० १११)

स्वरूपाद्यपेक्षं सदसदात्मकं वस्तु, न विपर्यासेन तथाऽदर्शनात् सकल जन साक्षिकं हि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्वस्य पर रूपादि चतुष्टयापेक्षया चासत्वस्य दर्शनं तद्विपरीत प्रकारेण चादर्शनं वस्तुनीति तत्प्रमाणतया तथैव वस्तु प्रतिपत्तव्यम्। (अष्ट स० पृ० १३५)

(४) यतस्तत् स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भावरूपेण सद्वर्त्तते, पर द्रव्यक्षेत्रकाल भावरूपेण चासत्। ततश्च सच्चासच्च भवति अन्यथा तदभाव प्रसंगात् (घटादिरूपेण वस्तुनोऽभाव प्रसंगात्) इत्यादि। (अनेकान्त जय पताका)

अन्यथा वस्तु के अभाव का–घटादि रूप वस्तु के अभाव का प्रसंग होगा अर्थात् जिस प्रकार स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा वस्तु सत् है उसी प्रकार यदि पर द्रव्य क्षेत्रकाल भाव रूप से भी वस्तु सत् ही हो तो घटादि वस्तु ही नहीं ठहर सकते, क्योंकि वह अपने स्वरूप की भांति अपने से भिन्न पर द्रव्यादि रूप से भी स्थित हैं। एवं पर द्रव्यादि रूप से घटादि पदार्थ जैसे असत् हैं वैसे स्व द्रव्यादि रूप से भी असत् हों तो घटादि पदार्थ गधे के सींग की माफिक तुच्छ ही ठहरेंगे। अतः सापेक्षतया वस्तु, सदसद् रूप ही स्वीकार करनी चाहिये *"नहि स्वपर सत्ता भावा भाव रूपतां विहाय वस्तुनो विशिष्टतैव सम्भवति"* वस्तु में स्वसत्ता का भाव और पर सत्ता का अभाव यदि न हो तो उसका–वस्तु का–विशिष्ट स्वरूप ही सम्भव नहीं हो सकता।

(हरिभद्र सूरिः)

(५) जैसे स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु में सत्व है उसी प्रकार पर रूपादि से भी उसमें यदि सत्व ही मानें तो एक ही घटादि वस्तु सर्वत्र प्राप्त हो जाय अर्थात् सभी वस्तुएं एक वस्तु रूप ही बन जाँय (चंद्रप्रभ सूरिः)

(६) कोई भी वस्तु सर्वथा भाव और अभाव रूप नहीं किंतु स्वरूप की अपेक्षा भाव और पर रूप की अपेक्षा अभाव रूप

१—यथा स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्वं तथा पर द्रव्याद्यपेक्षयापि सत्वं, तथा तदेव घटादि वस्तु सर्वत्र प्राप्नोति, ततश्च सर्वपदार्थाद्वैतापत्ति लक्षणं दूषणमापद्येत। (प्रमेयरत्न कोष पृ० १५)

होने से भावाभाव उभय रूप से ही वस्तु को मानना चाहिये।
(हेमचन्द्राचार्य)

इस सारे विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि जैन दर्शन को वस्तु सत् और असत् उभयरूप इष्ट है परंतु एक ही रूप से नहीं किंतु भिन्न रूप से अर्थात् सत्व, स्वरूप से असत्व, पर रूप से। अतः प्रतिवादि विद्वानों ने जो एक ही रूप से सत्व और असत्व की मान्यता स्थिर करके जैन दर्शन पर विशेष का आक्षेप किया है वह उचित नहीं क्योंकि जैन दर्शन, वस्तु में एक ही रूप से सत्वासत्व का अंगीकार नहीं करता इसलिये प्रतिपक्षी विद्वानों का प्रतिवाद जैन दर्शन के अनेकांतवाद के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। महामति कुमारिल भट्ट ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को खूब समझा और उन्होंने श्लोक वार्तिक में स्पष्ट लिख दिया कि—

"स्वरूप पररूपाभ्यां नित्यं सद् सदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित् कदाचन॥

(पृ० ४७६)

६—भावाभात्मकत्वाद्वस्तुनो निर्विषयोऽभावः। १। १। १२ नहि भावैक रूपं वस्तु इति विश्वस्य वैरूप्य प्रसंगात्। नाप्यभावैक रूपं नीरूपत्व प्रसंगात। किन्तु स्वरूपेणसत्वात् पररूपेण चा सत्वात् भावाभाव रूपं वस्तु तथैव प्रमाणां प्रवृत्तेः।

(प्रमाण मीमांसा पृ० ६)

अर्थात्—स्वरूप और पररूप की अपेक्षा वस्तु सत् और असत् उभय रूप है । *सर्वंहि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चा सद्रूपम् यथा घटो घट रूपेण सत् पट रूपेणासत्"* सभी वस्तुएं स्वरूप से सत् और पररूप से असत् हैं जैसे घट घटरूप से सत है और पट रूप से असत है(टीकाकार) तथा वैशेषिक दर्शन में भी अभाव निरूपण में इसी प्रकार का उल्लेख है । उसका जिकर पीछे आ चुका है ।

भास्कराचार्य ने पूर्व पक्ष में इस बात का कुछ जिकर किया है परन्तु इसका प्रतिवाद करते हुए उन्होंने उसी शैली का अनुकरण किया जो कि स्वामी शंकराचार्य की है । वे कहते हैं कि "घट रूप से घट सत् है और पट रूप से असत् इस प्रकार स्वरूप पर रूप की अपेक्षा से वस्तु सद् असद् रूप भी हो सकती है" यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि स्वरूपादि के विषय में भी सप्तभंगी नय का प्रवेश है, अर्थात्—स्वरूप भी कथंचित है और कथंचित् नहीं इत्यादि रूप से अनिश्चित ही रहेगा ×

× ननु पट रूपेण घटोनास्ति स्वेन रूपेणास्तीति को विरोधः । उच्यते स्वरूपेपि सप्तभंगी नयस्यावशेषात् । स्वरूपमस्तीत्यपिस्यान्नास्तीत्यपि तत्रा नध्यवसानमेवस्यात् ।

(भास्करीय ब्रह्म सूत्र भाष्य २ । २ । १३)

जैन दर्शन अनेकान्तवाद को अनेकान्त रूप से स्वीकार करता है "अनेकान्तस्याप्यनेकान्तानु विद्धैकान्त गर्भत्वात्" इसलिये भट्ट भास्कर जिस विषय में उस पर दोष का उद्भावन कर रहे हैं वह सुसंगत नहीं है । इस बात की चर्चा हम पीछे कर आये हैं ।

परन्तु विचार करने से भास्कराचार्य का यह कथन कुछ युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता, "वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है" जैन दर्शन के इस सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं कि पदार्थ व्यवस्था के लिये उपयुक्त किये गये शब्दों में भी हम अनेकान्त शब्द का ही मनमाने अर्थों में व्यवहार करें। इस प्रकार तो किसी दर्शन का भी कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकता। इस रीति से अनेकान्त-वाद के सिद्धान्त का प्रतिवाद करना, निस्सन्देह साम्प्रदायिक व्यामोह और विशिष्ट पक्षपात है। किसी सिद्धान्त का मनमाना स्वरूप कल्पना करके उसकी अवहेलना करनी न्यायोचित नहीं कही जा सकती। वेदान्त दर्शन के अन्यान्य भाष्यों और टीकाओं में भी प्रतिवाद की यही शैली है जिसकी आलोचना ऊपर की जा चुकी है इसलिये उनका पृथक् उल्लेख करना अना-वश्यक है तथा उन लेखों पर विचार करना भी पिष्ट पेषण है।

❀ ॐ ❀

शिवमस्तु सर्वजगतः।

शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१०	दृष्टिहिन्दुओं	दृष्टिबिन्दुओं
४	३	सदाभंगी के	सप्तभंगी के
६	२६	पच्चधुवं	यच्चध्रुवं
७	२०	व्यध्रौव्य	व्ययध्रौव्य
८	१३	स्वास्तिकाः	स्वास्तिकाः
११	१६	तद्धर्मीऽयर्थः	तद्धर्मीत्यर्थः
१२	२१	व्ययदेश	व्यपदेश
१२	२२	मेदाभावा	भेदाभावा
१५	१५	स्याद्वाद्विड्	स्याद्वादद्विड्
१६	५	प्रीतिश्चाम्युत्तर	प्रीतिश्चाप्युत्तरा
२२	१७	मविनष्ठम्	मविनष्टम्
२६	७	पर्यात्मक	पर्यायात्मक
२६	७	पयर्याय	पर्याय
२८	८	अनेकान्ता	अनेकान्तता
२८	१३	वादिनस्तवदाहुः	वादिनस्तावदाहु
२६	५	प्रतिषेदात्	प्रतिषेधात्
२६	२१	रतयन्तभेद	रत्यन्तभेद
३१	१०	दरथुलब्ध्यर्थे	दृष्ट्युपलब्ध्यर्थं
३१	२०	त्रैलोक्यं	त्रैलोक्यं
३६	३	अतीतानगत	अतीतानागत
३७	१३	गवाश्चवद्	गवाश्ववद्
३६	१६	,,	,,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९	१९	मुपयद्यते	मुपपद्यते
४४	२०	अर्थेःसर्वेऽपि	अर्थाःसर्वेऽपि
४४	२३	वाचस्यपति	वाचस्पति
४५	१४	गौरियमपिगाः	गौरियमपिगौः
४८	१	नहीं होगा	नहीं होगी
५१	२	ईश्चर में ही	ईश्वर में ही
५१	१२	कर्मकतृत्वादि	कर्मकर्तृत्वादि
५२	१२	आग विचार होगा	आगे विचार होगा
५३	११	किन्तर्हीं	किन्तर्हि
५३	२०	पृथितीत्व	पृथिवीत्व
५४	१३	तस्याप्यन्त भिन्नत्वं	तस्याप्यत्यन्त भिन्नत्वं
५६	९	थाणुर्वा पुरुषोवा	स्थाणुर्वा पुरुषोवा
५८	८	सदसत	सदसत्
५८	१२	कैश्चिद्रूपं किंचन	कैश्चिद्रूपम किंचित्
५९	५	ह्यात्मकत्वन	ह्यात्मकत्वेन
५९	१४	भावाभात्मकं स्वरूपं	भावाभावात्मकं स्वरूपं
५९	१६	भावाभावत्मकं	भावाभावात्मकं
५९	१७	सर्वमास्ति स्वरूपेण	सर्वमस्ति स्वरूपेण
६२	२	इत्युपयन्न	इत्युपपन्न
६३	२२	पृथक्कृतः	पृथक्कृत
६४	१९	यद्मेद्	यद्मेद
६७	२२	विरोधद्त्यर्थः	विरोधइत्यर्थ
७०	८	कार्या	कारण
७१	१७	यौऽसोशावलोयोगौः	योऽसोशावलेयो गौः
७२	२	गारयं शावलेयः	गौरयं शावलेयः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८	१६	मतिरमणीम्	मतिरमणीयम्
७९	१८	[अ० १ आ० २ सू०३]	[अ० १ आ० २ सू० ३]
८०	१३	प्रत्यये सत्येव	प्रत्यये सत्येव
८०	१५	पृ० २२	पृ० ४३
८१	६	आस्तित्व	अस्तित्व
८४	१२	जातीरीति	जातिरिति
८४	१५	सामान बुद्धि को	समान बुद्धि को
८४	१६	उभयरूप रूप	उभयरूप
८५	७	उपलब्ध	उपलब्ध
८५	१०	न्याय शूत्रों पर	न्याय सूत्रों पर
८५	१२	वृतियों	वृत्तियों
८८	१७	नह्यत्पेत्तेः	नह्युत्पत्तेः
८६	२४	उपादान नियात्	उपादान नियमात्
६१	१८	वैशे षिक	वैशेषिक
६२	१७	सच्छ्रशश्रृगादयः	सच्छशश्रृङ्गादयः
९२	१०	वाचारम्भणं	(वाचारम्भणं)
९२	२०	परस्तादपि	(पुरस्तादपि)
९३	२२	वै० सू० वै० पृ० १७४	वै० सू०
९४	१८	पत्प्रमाणैः	यत्प्रमाणैः
९४	१९	गवाश्रादि	गवाश्वादि
९६	६	महषी	महिषी
९७	१६	प्रमाणातरवेत्	प्रमाणातरचेत्
९९	१८	इत्दादि	इत्यादि
१०२	४	असत्यत्व	असत्यत्व
१०४	१५	कहाँ तब	कहाँ तक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	१०	निम्बकाचार्य	निम्बार्काचार्य
१०६	२२	शरीरभत	शरीरभूत
१०६	४	प्रपंच ब्रह्मणोर्भेदाभेद:	प्रपंच ब्रह्मणोर्भेदाभेद:
१०६	७	ब्रह्म प्रपचयो	ब्रह्म प्रपंचयो
१०६	११-१२	विशिष्टाद्हैतवादिन:	विशिष्टाद्वैतवादिन:
११२	१३	चिदरचिद्स्तु	चिदरचिद्वस्तु
११२	१४	चिदचीद्स्तुन्येव	चिदचिद्वस्तुन्येव
११३	२१	विकरत्वादि	विकारत्वादि
११४	२	विशिष्ठ	विशिष्ट
११७	१७	दृष्टेर्देशनात्	दृष्टेर्दर्शनात्
११६	११	वर्शन	दर्शन
१२०	११	बाह्म	बाह्य
१२०	१२	हनि	हीन
१२२	११	द्वैकल्यों	द्वैविकल्पों
१२४	१६	सर्वभा	सर्वथा
१२७	१७	अमिर्वचनीय	अनिर्वचनीय
१२८	२	निर्दिष्ठ	निर्दिष्ट
१२८	१४	पद्धिति	पद्धति
१२७	१८	द्योतकस्यात्	द्योतक: स्यात्
१३४	१	सदासीसदीर्नी	सदासीसदानीं
१३४	१५	अव्यक्तब्रह्म	अव्यक्तब्रह्म
१३४	२५	सापेप	सापेक्ष
१४२	१६	मित्य	नित्य
१४३	२०	मयु:	मृयु:
१४४	२१	नीपकण्ठाचार्य:	नीलकण्ठाचार्य:

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	८	एतैनैवानुमानेन	एतेनैवानुमानेन
१५६	१४	सप्ताभङ्गीन्याय	सप्तभङ्गीन्याय
१५६	१७	स्यान्नास्तित्यादि	स्यान्नास्तीत्यादि
१५७	१६	ममनाने	मनमाने
१५८	१	नंतव्य	मंतव्य
१६०	८	केचत्	केचित्
१६२	१२	केचत्	केचित्
१६३	६	आपने	अपने
१६५	६२	ऐतेनैकानेक	एतेनैकानेक
१६६	५	अनुभव्	अनुभव
१७५	१०	क्षेत्रकाल भाव रूप् से	क्षेत्रकाल भाव रूप से
१७७	७	विशेष	विरोध
१७७	१६	भावाभात्मकत्वाद्वस्तुनो	भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो
१७७	१६	प्रवृतेः	प्रवृत्तेः

नोटः—ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठों का "शुद्धाशुद्ध पत्र"

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	१५	नितृति	विवृति
२०	७	११६२	६६२
२५	१५	२५०००	२५००
२५	३०	ततः	ततः कृत
३०	३	सुद	सुहृद

मंडल की विक्रयार्थ पुस्तकों की संक्षिप्त सूची।

१ पुराण और जैन धर्म ॥।)
२ चैत्यवन्दन सामायिकसार्थ -)
३ वीतरागस्तोत्र ≡)
४ देवपरीक्षा -)॥
५ श्रीज्ञान थापने की विधि ≡)
६ सामायिक और देववन्दन)॥
७ पहिला कर्मग्रन्थ १।)
८ दूसरा कर्मग्रन्थ ॥।)
९ तीसरा कर्मग्रन्थ ॥)
१० चौथा कर्मग्रन्थ २)
११ योगदर्शन योगविंशिका १॥)
१२ कमनीय कमलिनी ।-)
१३ भजन पचासा -)॥
१४ नवतत्त्व ।-)
१५ भक्तामर और कल्याण-मन्दिर =)
१६ सप्तभंगीनय अंग्रेजी ।=)
१७ सम डिस्टिंग्विश्ड जैन्स ॥)
१८ स्टडी ऑफ जैनिज़्म ॥।)
१९ लार्ड कृष्णाज मैसेज ।)
२० सदाचार रक्षा प्रथम भाग ।)
२१ उत्तराध्यन सूत्रसार =)
२२ श्रीजिन कल्याणक संग्रह -)
२३ चतुर्दश नियमावली)॥
२४ साहित्य संगीत निरूपण ॥=)
२५ कलियुगियों की कुलदेवी)॥।
२६ हिन्दी जैनशिक्षा प्रथमभाग)॥
२७ हिन्दी जैनशिक्षा दूसरा भाग -)
२८ ,, ,, तीसरा भाग -)॥
२९ ,, ,, चौथा भाग =)
३० लोकमान्य तिलक का व्याख्यान)।
३१ दण्डक ।)
३२ जीवविचार ।-)
३३ चिकागो प्रश्नोत्तर अंग्रेजी ॥।)
३४ पंचकल्याणक पूजा -)
३५ इन्द्रिय पराजय दिग्दर्शन ।=)
३६ मास्टर पोइट्स ऑफ इण्डिया ।)
३७ श्वेताम्बर और दिगंबर संवाद -)॥
३८ जैनधर्म पर एक महाशय की कृपा ।)
३९ सप्तभंगीनय हिन्दी)॥
४० पंच तीर्थ पूजा -)॥
४१ रत्नसार प्रथम भाग २)
४२ विमल विनोद ॥=)
४३ तत्त्वनिर्णय प्रसाद ३)
४४ हंस विनोद ॥।)
४५ तत्त्वार्थसूत्र -)
४६ विज्ञप्ति त्रिवेणी १)
४७ शत्रुञ्जय तीर्थोद्धार प्रबन्ध ॥=)
४८ सम्बोध सत्तरि -)
४९ हिदायत बुतपरस्तिये जैन ।)